लक्षण वाले अन्तर्यामी सर्वव्यापी परमात्मा की ओर अपने मन इन्द्रिय और आत्मा को जोड़े, जब धीरे २ यह ध्यान कुछ बढजाय, अर्थात् दूसरे चिन्तवन को छोड़कर घड़ी आधी घड़ी इसी चिन्तवन में स्थिर रहने लगें तो स्तुति प्रार्थना समर्पण के मन्त्रों को मन में पढै और साथ ही उनके अर्थ में मन को लगावै ॥

इसी चिन्तवन को पतञ्जलमुनि कृत योगशास्त्र के अ० १ पा० १ सू० २ में योग कहा है 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'

उपासना के समय चित्तवृत्ति को रोकने का नाम योग है, इस उपासना को बढाने और मन को स्थिर करने के लिये गीता में दो उपाय कहे हैं। १ अभ्यास दूसरा वैराग्य।

जब मन ईश्वर के चिन्तवनको तज के बाह्य विषयों की ओर जाने लगे तो उसे बलात्कार से ईश्वर में लगाने का नाम अभ्यास है ॥

असद्वासना वा स्त्री, पुत्र, धन, धाम, पान, स्थान, मानादि वासनाओं को उपासना के समय मन में न आने देना वैराग्य है ॥

पहले सुने हुए मन्त्रों और नामों को मन से चिन्तवन करते २ तन, मन, धन, ईश्वर में अर्पित करदेना बस यही उपासना है।

यदि कोई शङ्का करे कि तन, मन, धन के बिना अर्पण किये क्या उपासना नहीं होसक्ती है तो अवश्य कहना पड़ता है कि जब तक असद्वासना का त्याग और तन, मन, धन, से मोह न दूर किया जाय तब तक मनुष्य उपासक श्रेणी में नहीं गिना जाता, क्योंकि तन अर्पित करनेमें अपने हाथोंसे सेवा तथा साधुजनों को नमस्कार करने में लज्जा नहीं आती इस लज्जा के दूर होने से जाति, विद्या, कुल, बल, धर्म, धन, इत्यादि पदार्थों का अभिमान नहीं प्रवेश करेगा जो अत्यन्त अनर्थ का हेतु और मोक्ष का प्रतिबन्धक है मन अर्पित करने से एक तो धर्म के मार्ग में यदि कोई विपत्ति आजाय तो सहन करी जाती है, और दूसरा लोकलाज, कुललाज, धर्म मार्ग से पीछे नहीं हटने देती, धन अर्पित करने से एक तो

धन में अत्यन्त प्रीति नहीं रहती कि जो लोभ और तृष्णा को बढ़ाकर अनेक प्रकार के पापों को प्रगट करदेती है ॥

और दूसरा धर्म के उत्सवों और सामाजिक उत्साहोंपर द्रव्य देना कुछ कठिन नहीं प्रतीत होता, इसमें धर्म की वृद्धि और धर्म की वृद्धि से पुण्य की प्राप्ति, पुण्य की प्राप्ति से अन्तःकरण की शुद्धि होती है, और वह शुद्धि मोक्ष के साधनों में से एक मुख्य साधन है, सो इस प्रकार से प्रत्यक्ष फलों की ओर मुख्यदृष्टि देकर तन, मन, धन ईश्वर में अर्पित करके मनुष्य उपासक नाम का अधिकारी होसकता है, जब उपासक उपासना करने को स्थिर चित्त होकर बैठे तब जिस मन्त्र वा जिस नाम का स्मरण करे तब उसी का जप और उसी की भावना करनी चाहिये । यथा—

तज्जपस्तदर्थभावनम् ॥ यो० अ० १ पा० १ सू० २८

इसी का जप करो और अर्थ विचारो उपासना के समय जप करने और अर्थ के विचारने सेही उपासक उपास्यता को प्राप्त होता है और सम्पूर्ण क्लेशों से छूटजाता है ॥

ततःप्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यंतरायाभावाश्च
यो. अ. १ पा. १ सू. २८

परमात्मा की प्राप्ति और उसके अविद्यादि क्लेशों तथा व्याधि- आदिक विघ्नों की निवृत्ति होजाती है, व्याधि आदिक ९ विघ्न उपासना के मार्ग में शत्रु हैं ।

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रांतिदर्शनाल-
ब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेन्तरायाः
यो० अ० १ पा० १ सू० ३

१ व्याधि [ज्वरादिरोग] २ स्त्यान (सत्कर्मों में अप्रीति) ३ संशय ४ प्रमाद (समाधि साधने में प्रीति तो है परन्तु ग्रहण न हो सकै) ५

आलस्य ६ अविरति [विषय सेवा में तृष्णाका होना] ७ भ्रांति दर्शन [उलटा ज्ञान] ८ अलब्ध भूमिकत्व [समाधि का न जुड़ना] ९ अनवस्थितत्त्व [समाधि प्राप्त होजाने पर भी उसमें चित्त का स्थिर न होना। यह नौ विघ्न उपासना के मार्ग में शत्रु हैं ।

उपासक पुरुषों को सांसारिक लोगों के साथ रहना इस प्रकार लिखा है कि-

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् यो० अ० १ पा० १ सू० ३३

सर्वसाधारण के साथ मित्रता करना दुखियों पर दया रखना पुण्यात्माओं के साथ प्रसन्नता पापियों के साथ उपेक्षा रखना अर्थात् न उनके साथ वैर न प्रीति इस रीति पर उपासक का मन सदा स्थिर और शांत रहता है ॥

उपासना के समय प्राणायाम की परमावश्यकता है, बिना प्राणायाम के उपासना का होना दुःसाध्य है, इस कारण प्राणायाम रूपी उपासना का वर्णन करते हैं भीतर से जब प्राणायाम बाहर को आवे तो उच्चारित मन्त्र के साथ कुछ २ उसको बाहर रोके और जब भीतर जावे तो उसी मन्त्र के साथ कुछ काल तक भीतर रोके इसको प्राणायाम कहते हैं, इसरीति के बारम्बार करने से प्राण वश में होजाता है, प्राण वश में हुआ तो मन स्थिरता को प्राप्त करता है और फिर उसमें आत्मा स्वयं स्थिर होजाता है इन तीनों की स्थिरता हुए अपनी आत्मामें जो अन्तर्यामी परमेश्वर वर्त्तमान है उसके स्वरूप में मग्न होजाना चाहिये वह परमानन्द का स्थान है ऐसा होजाने पर उपासक कहसकता है कि मैं उपासना में तत्पर हूँ ॥

इस उपासना योग के आठ अंग हैं कि जिनके ग्रहण करने से अज्ञान की हानि और ज्ञान की वृद्धि होजाती है फिर उसमें मोक्षरूपी सुख की प्राप्ति होती है ॥

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाध- योऽष्टावंगानि । यो० अ० १ पा० २ सूत्र २६ ।

१ यम २ नियम ३ आसन ४ प्रणायाम ५ प्रत्याहार ६ धारणा ७ ध्यान ८ समाधि यह योग के आठ अंग हैं ।

(१) यम पांच प्रकार का है अर्थात् अहिंसा सत्य अस्तेय [चोरी [न करना] ब्रह्मचर्य्य और अपरिग्रह ।

(२) नियम यह भी पांच प्रकार का है अर्थात् शौच [पवित्रता] सन्तोष, तप, स्वाध्याय [वेद पढना] और ईश्वर प्रणिधान [परमात्मा में प्रीति करना]

(३) आसन न ऊँचा हो न नीचा स्थिर शुद्ध आसन होना चाहिए कि जिसमें शीत उष्ण भी बाधा न करें और दृढ होना चाहिए ।

(४) प्राणायाम सो पहलेही कह चुके हैं ।

(५) प्रत्याहार मन और इन्द्रियों का जीतना ।

(६) धारणा मन को चञ्चलता से छुडाकर नाभि, हृदय, मस्तक, नासिका और जिह्वा के अग्र भाग आदिक स्थानों से स्थिर करके मन में मन्त्र को जपै और उसके अर्थ को विचारै ॥

(७) ध्यान पूर्वोक्तस्थानों में व्यापक अन्तर्यामी परमात्मा के आनन्द स्वरूप को पूर्ण देखना ॥

(८) समाधि आत्मा की प्रकाश स्वरूप परमतमा के आनन्द और ज्ञानसे परिपूर्ण करने को समाधि कहते हैं ॥

बस पूर्वोक्त रीति से उपासना करता हुआ अविद्या और अधर्माचरण से छूटकर शुद्धज्ञान और धर्म के अनुष्ठान से मुक्तिपद को प्राप्त होता है ॥

मय्यावेश्यमनोयेमांनित्ययुक्ताउपासते । श्रद्धयापरयो- पेतास्तेमेयुक्ततमामताः । भ० गी० अ० १२ श्लो० २

श्रीकृष्ण भगवान् अर्जुन से कहते हैं कि हे अर्जुन जो मनुष्य सर्बदाही मेरे संयोगी की रक्षाकरते हैं, वह मेरे को अत्यन्त प्रिय जानकर

मुझ में अपने मन को लगाये हुए मेरी उपासना करते हैं अर्थात् सर्व लौकिक और वैदिक कर्म मुझमेंही अर्पण करते हैं वे उत्तम उपासक हैं। फिर भी भगवद्गीता के १२ अध्याय के दूसरे और चौथे श्लोक में कहा है कि—

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यञ्च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥
सन्नियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥

जो मनुष्य सम्पूर्ण इन्द्रियों के समुदाय को स्वाधीन करके सबको अभेद दृष्टि से देखने वाले और सम्पूर्ण प्राणियों के हित करने में निरत होकर जो पुरुष विनाश रहित अनिर्देश्य (अर्थात् देव मनुष्यादि शब्द के निर्देश करने के अयोग्य) अव्यक्त [चक्षु—आदि इन्द्रियों से अग्राह्य] सर्वव्यापक चिन्तवन करने को अशक्य, कूटस्थ [अर्थात् सब काल में एकही रूप से स्थित निश्चल और सदा एक रस ऐसे मेरे रूप की उपासना करते हैं वे उपासक भी मुझको प्राप्त होते हैं, यह भगवान का वाक्य है, इत्यादि वाक्यों से निःसन्देह सिद्ध होगया कि मनुष्य को ईश्वर की उपासना अवश्य करनी चाहिये। कारण कि प्राचीन उपासकों ने यह सिद्धान्त किया है कि मनुष्य के अन्तःकरण में जो एक विक्षेप दोष है उपासना के बिना उसका नाश नहीं होता अर्थात् उपासना का फल विक्षेप दोष को नाश करता है। "ईश्वरोपासना" के जितने ग्रन्थ हैं, सब में ही उपासना मार्ग दो प्रकार से प्रकाशित हैं इस कारण यहां भी दो प्रकार की उपासना कही गई है, परन्तु फिर भी सम्प्रदायों और महर्षियों की इस बात में यह सम्मतिहै कि पुरुष को प्रथम साकारोपासना करनी मुख्य कर्त्तव्य है चिरकाल तक साकारोपासना में मन की वृत्ति को लगावे तभी निराकारोपासना का अधिकारी होसकता है।

जो पुरुष साकारोपासना: को पाखण्ड कहकर निराकारोपासना का झण्डा झुला रहा है आशा है कि वह मोह माया की हवा में उडा हुआ अवश्य उभयतः भ्रष्टमण्डली का आचार्य बना दिखाई देगा, हे प्रियपाठकगण ! यदि तुम्हारा ईश्वर में सच्चा प्रेम है यदि तुम उस जगदीश्वर को सच्चे प्रेम से भजते हो तो यह सत्य मानना कि बिना साकारोपासना के निराकारोपासना करनेके लिए जो लोग तैयार होते हैं, वह ऐसे थोथे रहजाते हैं जैसे कोई विना बीज के फलको नहीं पासकता, जैसे वर्णबोध के विना पुस्तक नहीं पढ सकता है मूर्ख से भी मूर्ख समझसकता है कि पहले अक्षरों की पहचान होगी तब पुस्तक पढने की भी लियाकत होगी जो कहै कि मैं वर्णमाला को वाहियात समझता हूँ अक्षरों का सीखना टक्करां मारना है मैं झटपट किताब को पढना चाहता हूँ तो अब जरा कहिए कि उसको क्या कहना चाहिए इसका उत्तर हमारे पाठक स्वयं समझगए होंगे अब हमारी अपने पाठकोंसे यही प्रार्थना है कि सम्पूर्ण मनुष्यों को ही साकारोपासना करनी कर्त्तव्य है अर्थात् प्रथम साकारोपासना ही करनी चाहिए क्योंकि वेदादि सच्छास्त्रों द्वारा सर्व सम्मत उपासना का लक्षण यह किया गया है कि--

"तस्मिन्प्रीतिस्तत्प्रियकार्यसाधनं तदुपासना।"

इस का अर्थ यह है कि ईश्वर में ही प्रीति और उसके प्रिय कार्य करने का नाम उपासना है इस उपासना के लक्षण से स्पष्ट प्रतीत होता है कि उस सच्चिदानन्द आनन्दघन परमेश्वर में प्रेम बँधाने के लिए ईश्वर की प्रसन्नता के अर्थ काम करते रहना उस परमात्मा को प्रसन्न करने के काम यही हैं कि पूजन करना हरि मन्दिरों में जाना, उत्सवों का देखना ईश्वर के चरित्रों का देखना उसके गुणानुवाद करना ईश्वर के नामार्थ दानों का देना उसके स्वरूप को देखने के लिए लीलाओं का देखना इत्यादि वार्त्ताओं के देखते २ ईश्वर के सच्चे आनन्दरूप में लीन होने का ही नाम उपासना है।

विद्यावारिधि पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र.

॥ अवतार ॥

मत्स्यादिभिरवतारैरवतारवतावतासदावसुंधाम् ।
परमेश्वरपरिपाल्यो भवताभवतापभीतोऽहम् ॥

इस समय जैसे और विषयों पर अनेक प्रकार के तर्क वितर्क होरहे हैं इसी प्रकार अवतार विषय में भी नानाप्रकार के सन्देह उठने लगे हैं आज हम उन सन्देहों को क्रम से दूर करते हुए अवतार विषय में कुछ लिखेंगे।

ईश्वर के अवतार लेने में प्रथम उसका जन्म होता है वा नहीं इस विषय में विचार करते हैं, तो पहले यह विचार कर्त्तव्य है कि जिस प्रकार ईश्वर को अज पढा है इसी प्रकार जीव को भी अज पढा है जैसे——

नजायतेम्रियतेवाविपश्चिन्नायं भूत्वाभवितावानभूयः।
अजोनित्यःशाश्वतोयंपुराणो नहन्यतेहन्यमानेशरीरे।
कठवल्लीउपनिषद्० ॥

अर्थात् यह जीव मरता जन्मता नहीं न हुआ है न होगा, यह अजन्मा शाश्वत पुरातन है शरीर के नष्ट होने में नष्ट नहीं होता, जब कि जीव भी अजन्मा होकर जगत् में प्रादुर्भाव तिरोभाव को प्राप्त होता है तब ईश्वर जो सर्व शक्तिमान है उसके आविर्भाव तिरोभाव में कब दोष आसकता है जो लोग ईश्वर के अवतार में शंका करते हैं उनका प्रथम प्रश्न यह है कि सर्व शक्तिमान् ईश्वर को अवतार लेने की क्या आवश्यकता है ? अब यहां यह देखना चाहिए कि सर्वथा पूर्ण काम सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मा का क्या अटका था जो उसने सृष्टि रची और किस आवश्यकता के पराधीन हो उसने इतना जाल रच इसके नियम का भार अपने सिर पर लिया। इस प्रकरण में जितने ईश्वर वादी हैं सब आवश्यकता बतलाने के लिए चुप हैं और यदि बोलते हैं तो सब मिलके एकही उत्तर देते हैं कि यह भगवल्लीला है।देखिए सर्व प्रमाण शिरोभूत उपनिषद् में रमणेच्छा अर्थात् लीला ही कही है। बृहदारण्यक चतुर्थ ब्राह्मण श्रुति ३ में लिखा है।

सवैनैवरेमे तस्मादेकाकीनरमते स द्वितीयमैच्छत् ॥

अर्थात् वह रमण नहीं करते थे अकेले रमण न किया, दूसरे की इच्छा की तो जिस पूर्ण काम षडैश्वर्य संपन्न जगदीश्वर ने कोटि २ ब्रह्माण्डों की रचना केवल लीलाके लिए करडाली है उसनें यदि उस लीला मात्र के लिए अवतार भी धारण किये हों तो क्या असम्भव है। अतएव पूर्वाचार्य्य भी यही अवतार का कारण स्थिर करते आये हैं जैसे श्री मद्भागवत के गर्भ स्तुति में देवताओं ने कहा है।

नतेभवस्येश भवस्य कारणं विनाविनोदं बततर्कयामहे।
भा० स्कं० १० अ० २ श्लोक० ३९ ॥

आपके प्रादुर्भाव का कारण हम लोग विनोद के सिवाय और कुछ नहीं सोच सकते और--

क्रीडनेनेहदेहभाक्। भा० स्कं०१० अ०४० श्लो०१६।
"यानियानीहरूपाणिक्रीडनार्थं बिभार्षिहि"।

अर्थात् आप जो २ रूप क्रीड़ा के लिए धारण करते हैं। इस प्रकार अवतारों में लीलामूल कारण रहते भी अवतारोंके प्रायः तीन उद्देश्य और भी देखे जाते हैं (१) दुष्टों को दमन पूर्वक सत्पुरुषों की रक्षा, तथा [२] धर्म की रक्षा पूर्वक जगत् का मङ्गल, और [३] सगुण लीला द्वारा उस समयके प्रत्यक्ष उपासक तथा भविष्यत काल के उपासकोंका सौकर्य साधन

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगेयुगे। गीता० अ० ४ श्लो० ८
गोविप्रसुरसाधूनां छन्दसामपिचेश्वरः।
रक्षामिच्छंस्तनूर्धत्तेधर्मस्यार्थस्यचैवहि। भा०स्कं० ८ अ० २४ श्लो० ५ बिभर्षिरूपाण्यवबोधआत्मा क्षेमाय लोकस्य

चराचरस्य। सत्त्वोपपन्नानि सुखावहानि सतामभद्राणि मुहुः खलानाम्। भा० स्कं० १ अ० २॥

इन सब वचनोंसे जीवों का उद्धार करना अवतार का उद्देश्य प्रगट होता है, यों अवतार के समकाल जीवों के उद्धार में तो समस्त अवतार चारित ही प्रमाण है।

दूसरा प्रश्न यह है सर्व्वव्यापक, का अल्प परिमाण में परिच्छिन्न होना कैसे सम्भव है।

(२) ऐसे संशय पर परमात्मा के विषय में भी ऐसा पूर्व पक्ष करना बहुत ही आश्चर्य्य है। जब उदाहरण स्वरूप आकाश से पञ्चभूत की उत्पत्ति नहीं और भगवान सर्व सृष्टि कर्त्ता सर्व शक्तिमान हैं और मन वाणी से अगोचर हैं, जैसे कि—

"जानन्तएवजानन्तुकिंबहूक्त्यानमेप्रभो। मनसोवचसोवाचोवैभवंतवगोचरः" भा०स्क१०अ.१४ श्लो३८ "यतोवाचोनिवर्त्तन्तेअप्राप्यमनसासह" इत्यादि—

श्रुति भी प्रसिद्ध है, तब उन पूर्ण पुरुषोत्तम के विषय में यह प्रश्न कैसे होसकता है। और यों तो आकाश काल आदि में व्यापकत्व सहचारित चेतनत्वाभाव देखके कदाचित् ईश्वर में चेतनत्वाभाव का भी अनुमान कोई कर डाले। परन्तु यह सब निरर्थक है। क्योंकि जब परमात्मा सर्व शक्तिमान और जगत् विलक्षण है तो आकाशादि पदार्थ की समान उनका स्वभाव नहीं समझा जासकता बास्तव में तो सर्वव्यापक सच्चिदानन्द परमात्मा कहीं अपने आकार को प्रगट कर देते हैं। और सर्व व्यापकही रहते हैं और एक देश में आकार रहता है इसमें बाधक क्या है?

अवतार रूप में प्रधान आकार एक देशमें रहतेभी भगवान ने अन्यत्र अपने अनेक रूप दिखलाए हैं जैसे अक्रूर को जलमें दिव्य रूप दिखलाया (भा० स्कं० १० अ० ३९) गोपियों को रासलीला में अनेक रूप दिखलाए (भा० स्कं० १० अ० ३३ श्लो० ३ और २०) और

ब्रह्मा को नाना प्रकारके भिन्न २ आकार तथा रूप दिखलाए (भा० स्कं० १० अ० १३) फलितार्थ यह हुआ कि आकार मात्र अवछिन्न होते हैं कुछ ब्रह्म का अवछिन्नत्व नहीं होता किन्तु परब्रह्म परमात्मा सर्वव्यापक ही है। कभी एक स्थानमें एक दिव्याकार प्रगट करते हैं कभी अनेक दिव्याकार प्रगट करते हैं कभी उस दिव्याकार को भी अंतर्हित करते हैं (भा० स्क० १० अ० ३०)

अन्तर्हितेभगवतिसहसैवव्रजांगनाः ।
अतप्यंस्तमचक्षणाःकरिण्यइवयूथपम् ॥

और कभी फिर प्रकट करते हैं (भा० स्कं० १० अ० ३२)

तासामाविरभूच्छौरिः स्मयमानमुखाम्बुजः ।
पीताम्बरधरः स्रग्वी साक्षान्मन्मथमन्मथः ॥

और यजुर्वेद संहिता अ० १६ मन्त्र ३० में लिखा है—

नमोह्रस्वायचवामनायच नमोबृहतेचवर्षीयसे च ।

इत्यादि प्रमाणों से जब कि परमात्मा में ह्रसत्व भी सिद्ध ही है तो विवाद क्या ? ।

(३) तीसरा प्रश्न यह है कि अलौकिक लीला विशिष्ट परमेश्वर को मानवलीला शोभित नहीं ।

उ॰—परमेश्वर को मानवलीला का अशोभित होना ही इस प्रश्न तथा संशय का मूल है सो पहिले इसका तो निर्णय किया जाय कि परमेश्वर को कौन सी लीला सजती है और कौनसी नहीं । परमेश्वर के लिए यह कौनसी अच्छी बात है कि बार बार सृष्टि करें और बार २ प्रलय करें। पूर्ण काम के लिए सृष्टि लीलाही किस युक्ति से सजती है ? और सृष्टि लीला सजी तो लीलान्तर्गत दूसरी अवतार लीला क्यों नहीं सजती? इससे यह सिद्ध हुआ कि जब परमात्मा लीलाही करने लगे तो उनको सब लीलाही शोभित हैं, इस कारण मनुष्य लीला भी ईश्वर के अवतारों के विरोध में नहीं है।

२–जो सर्वशक्तिमान हैं उनको मानवलीला धारण की शक्ति है और इस लिए भगवान् क्रीडा करनेके अर्थ उसी शक्तिका उद्भव करें तो आश्चर्य क्याहै ?

३–भगवान् का यह स्वभाव ही है कि जो सच्चे प्रेम से जैसी उपासना करते हैं उनके लिए वैसाही रूप धारण करके उनका उद्धार करना जैसा के मण्डल० ब्रा० और गी० में लिखा है—

यथा यथोपासते तदेव भवति तद्धेनान्भूत्वा भवति।
ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्॥

इत्यादि, तो जिन नन्द यशोदा वसुदेव देवकी आदि ने तपकर यही वर मांगा था कि आप हमारे पुत्र हों, उसी के अनुसार आपको मानवरूप लेना पडा है, और उस स्वरूपादि की प्रकृति के अनुसार और २ लीला भी हैं।

इसी स्थानमें यह भी समझने की बात है कि अवतार लीला के प्रयोजक तीन हैं १ प्रार्थना २ प्रकृति और ३ इच्छा।

प्रार्थनानुसार जैसे नन्दादि की प्रार्थना के अनुसार आपने अवतार ग्रहण किया। और गोपी आदि की जन्म जन्मान्तर की प्रार्थनानुसार अनेक लीला करीं। और ऋतुग्रामादि की प्रकृति के अनुसार भी विविध लीला करीं तथा केवल जगत् के उद्धार की इच्छा से भी विविध लीला करीं अर्थात् कोई लीला भक्तों की प्रार्थनानुसार और कोई अपनी प्रकृतिके अनुसार होती हैं। जिस समय चारों ओर जलही जल भरा है वह प्रकृति किरीट कुण्डलादि सुशोभित रूप नहीं चाहती किन्तु मत्स्यरूप ही उसके अनुकूल है। जब जल में निमग्न मन्दर को धारण करना है तब कठिन पृष्ठवाला कच्छपावतार ही प्रकृतिके अनुसार है, कीचडमें घुसकर पृथ्वी निकालने के लिये शूकरावतारही प्रकृति के अनुकूल है। इस प्रकार प्रकृति आदि के अनुकूल भगवान को पशुलीला पर्यन्त शोभित होती है, फिर मानवलीला में क्या सन्देह है ? यह भी जानना अवश्य है कि

भगवद्‌वतार की लीला लौकिक और अलौकिक भाव से भरी होती है। अलौकिक भाव अद्भुत रससे भरा होता है और अलौकिक भाव के प्रगट होने से देखने सुननेवालों के हृदय में अवतार स्वरूप का साक्षात् ईश्वर होना जम जाता है। फिर जब भगवान् लौकिक लीला का प्रादुर्भाव करते हैं तब कुछ ईश्वरभाव की प्रभा रहते लौकिक भाव मिलने से एक अपूर्व माधुर्य्य होता है। उलूखल बन्धन मुख में त्रिलोकी दर्शन आदिका आनन्द वही लोग जानते हैं जो अधिकारी हैं। इन लीलाओं का माधुर्य्य लोकोपकारार्थ होजाता है क्योंकि सुनते कहते लोग करते हैं जैसा कि भा० स्कं० १० अ० २ श्लो० ३७ में लिखा है।

शृण्वन् गृणन् संस्मरयंश्च चिन्तयन् नामानि रूपाणि च मङ्गलानि ते ॥ क्रियासु यस्त्वच्चरणारविन्दयो-राविष्टचित्तो न भवाय कल्पते ।

और इससे निर्लेप सच्चिदानन्द की कोई हानि नहीं है जैसा कि भा० स्कं० ८ अ० २४ श्लोक ६। में लिखा है कि—

उच्चावचेषुभूतेषु चरन् वायुरिवेश्वरः ।
नोच्चावचत्वंभजते निर्गुणत्वाद्धियोगुणैः ॥

इस रीति से अधिक माधुर्य्य संपादक मनुष्य लीला परमेश्वर को सदा शोभित है।

(४) प्रश्न यह है, कि 'अवतारों में जीव से अधिक प्रताप क्या है?

१ यदि विचार के देखो तो जीवों से बहुत ही विलक्षणता अवतारों में है। पहले तो प्रगटता के समयही से अद्‌भुत रस उमग उठता है। जैसे श्रीकृष्णचन्द्र ने जन्म समयही में किरीट कुंडलादि से भूषित चतुर्भुजी मूर्ति दिखाई। जैसा कि भा० स्कं० १० अ० ३ में लिखा है—

तमद्भुतंबालकमंबुजेक्षणं चतुर्भुजंशंखगदाद्युदायुधम् ।
श्रीवत्सलक्ष्मंगलशोभिकौस्तुभंपीतांबरंसान्द्रपयोदसौभगम्॥

महार्हवैदूर्यकिरीटकुण्डलत्विषापरिष्वक्तसहस्रकुन्तलम् ।
उद्दामकाञ्च्यङ्गदकंकणादिभिर्विरोचमानं वसुदेवऐक्षत ॥

इत्यादि। और फिर प्रायः ऐसा कोई भी अवतार नहीं है जिसकी आदि से अन्त तक सब लीलाओं का अद्भुत रस न हो। जैसे मत्स्यका बढना, कच्छ का मन्दर धारण, वाराह का पृथ्वी का उद्धार, नृसिंह का स्तम्भ से प्रगट होना, वामन का बढना इत्यादि। और श्रीकृष्णावतार तो अद्भुत लीलाओं का भाण्डारही है।

और दूसरे चित्ताकर्षण रूप माधुर्य्य की पराकाष्ठा अवतारों में परम विलक्षण है। यह बात जीवों में होही नहीं सकती कि जहां खड़े हों वहां के तिर्यक् पर्य्यन्त चेतन तथा जड़ लता वृक्षांकुरादि परवश से ही स्तम्भित हो जांय। और साक्षात् होतेही सब के अन्तःकरण तद्रूप हो जांय। यह अपूर्व माधुर्य्य और वशीकरण आकर्षण केवल प्रभु ही में है। श्री० भा० स्कं० १० अ० २१ देखो॥

(९) प्रश्न यह है कि पूर्णावतार और अंशावतार में क्या भेद है?

वास्तव में तो ब्रह्मता की दृष्टि में सभी पूर्णावतार हैं, परन्तु जो अवतार एकही उद्देश्य से हुआ और एकही अथवा थोड़ेही उद्देश्यों का साधनकर तिरोहित हुआ वह मत्स्य कच्छपादि रूपवाला अंशावतार कहलाता है और जो अवतार अनेकानेक उद्देश्यों से हुआ है तथा असंख्यात नाना लीला कर अन्तर्हित होता है वह पूर्णावतार कहलाता है जैसे रामावतार कृष्णावतार।

श्रीकृष्णावतार में तो चारोंओर से पूर्णता बरसी पड़ती है। इधर बाललीला पूर्ण, कौमार पूर्ण, वीरता पूर्ण, दयापूर्ण योंही अद्भुत शृंगारादि रसों की भी पूर्णता भगवान के पूर्णावतार होने को प्रगट करती है। विरुद्ध धर्माश्रयत्व भी परब्रह्म का स्वभाव है ऐसा शुद्धाद्वैत का सिद्धान्त है, और अलौकिकता के कारण विरुद्ध धर्माश्रयत्व ही होसकता है यह सभी भक्तिकांडवालों का आग्रह सिद्धान्त है सोही श्रुति सम्मत भी है जैसे कि श्रुति—

"अणोरणीयान्महतोमहीयान्"।
"नमोह्रस्वायच वामनायचबृहतेच"॥
"नमोज्येष्ठाय च कनिष्ठाय च"।"तदेजतितन्नैजति"

इत्यादि। विरुद्ध धर्म भी कृष्णावतार में भगवान् ने पद २ में दिखलाये हैं। जैसे अशक्ति और अंग की कोमलता इतनी कि बच्चे की पूंछ पकड़ते तो बच्चा खेंच लेजाता। शक्तिमत्ता इतनी की कि गोवर्द्धन धारण किया शैशवता इतनी कि अपनी क्रीड़ा में समस्त व्रज को फंसाया। और प्रमाणिकता इतनी कि केवल अपने उपदेश के बल से इन्द्र पूजा फेर के गोवर्द्धन पूजा करादी। एक समय ऐसे हलके कि यशोदा खिला रही हैं और एक समय ऐसे भारी कि तृणावर्त्त को भी लेपड़े। और ब्रह्मा को उसी क्षण एकत्व तथा अनेकत्व भी अपने स्वरूपही में दिखलाया और द्विभुजत्व तथा चतुर्भुजत्व दिखलाया इत्यादि विरुद्ध धर्म्माश्रयत्व परब्रह्मही के चिह्न हैं सो श्रीकृष्ण की पूर्णता के सूचक हैं॥

'एकोऽहं बहुस्यां प्रजायेय' यह ब्रह्म की इच्छा है और भगवान् ने भी रास में ब्रह्मा के आगे,तथा श्रीद्वारका रनवास में एक से अनेक होना दिखलाया। यह भी पूर्णता के सूचक हैं। परमात्मा अपनी इच्छा से अपनेही में प्रपञ्च का प्रादुर्भाव करते हैं यह ब्रह्म की पूर्णशक्ति है सो भगवान् कृष्ण ने भी दो बार तो यशोदा को मुखारविन्द में त्रिभुवन दिखाया था॥

६ प्रश्न यह है कि अवतारों के शरीर पांचभौतिक हैं अथवा अलौकिक ?

अवतारों के लीला प्रकरण देखने से पांचभौतिक की अपेक्षा अपांचभौतिक अलौकिक धर्म्मही अधिक मिलते हैं। जैसे कृष्णावतार के जन्म के समय चतुर्भुज रूप से दर्शन देना पुनः द्विभुज होना, इच्छामात्र से सब को निद्रित करना, पूतना तृणावर्त्तादि वध, कालीय मर्दन, गोवर्द्धनोद्धारण, रास में तथा ब्रह्मा के सन्मुख नानारूप धारण, अन्तर्धान प्राकट्यादि, कुवलयापीड़ नाशन, प्रजा सहित मथुरा वासियों का द्वारका में

प्राप्त करना, अर्जुन को विश्वरूप दर्शन इत्यादि सहस्रशः ऐसे अलौकिक धर्म मिलते हैं, तो अब निष्पक्षपात होके परीक्षा करनी चाहिये कि यह दोनों प्रकार के धर्म्म पांचभौतिक में सम्भव हैं कि अलौकिक दिव्य में। पांचभौतिक पाषाण वनस्पति आदि पदार्थों में तो जो गुण नियत हैं सो हैं वोह न बढते हैं न घटते हैं ? इन पदार्थों में नियत गुण युक्तत्वही एक प्रकार का लौकिकत्व है। और एक पाषाण खण्ड भी यदि गुरुत्व श्यामत्व कठोरत्वादि यावत् पांचभौतिक गुण विशिष्ट हो परन्तु देखते २ अन्तर्हित होजाय फिर नानारूप से प्रगट हो फिर सूक्ष्म बृहत् आदि नाना आकार धारण करे फिर ज्यों का त्यों होजाय तो पूर्वोक्त लौकिक गुण रहते भी वह अलौकिकही माना जायगा अर्थात् लौकिक धर्म अलौकिक धर्म के बाधक नहीं होते किन्तु एकभी अलौकिक धर्म हो तो अलौकिकता का बाधक होजाता है अलौकिक धर्म का लौकिक धर्म बाधक होना ऐसा पामर लोगों में प्रसिद्ध हैं कि कोई मरा हुआ पुरुष फिर कहीं देखपडे तो उसका रङ्गरूप आकार स्वभाव बोल चाल सब पूर्ववत् हो तो भी दग्ध होने के पश्चात् फिर आना यह एकही ऐसा प्रबल अलौकिक धर्म माना जाता है कि उसको प्रेत भूत देव कह बैठते हैं। यह नहीं विचारते कि नाना धर्म तो वेही पूर्ववाले हैं एक नया हुआ तो क्या। अर्थात् लौकिकत्व का बाधक अलौकिकत्व है। सो कृष्णावतार में लौकिक धर्मरहतेभी अलौकिकताके प्रधान होनेसे उन दोनोंका अलौकिकत्व ही सिद्ध होता है। कतिपय लौकिक धर्म भी दिखलाना उस अलौकिकता का भूषण ही दूषण नहीं। फिर लौकिकता पूर्वपक्षी ने जैसी समझी है वैसी नहीं है जैसा श्री० भा० स्कं० १० 'ततोजगन्मङ्गलमच्युतांशम्' इस श्लोक में स्पष्टही कहा है कि मनस्तःदधार' अर्थात् जैसे और स्त्रियें उदर में गर्भधारण करती हैं वैसे देवकी ने धारण नहीं किया किन्तु देवकी ने मन में धारण किया ऐसेही जन्म समय में भी श्रीशुकाचार्य्य ने स्पष्ट कहा है कि 'आविरासीद्' अर्थात् भगवान् प्रगट हुए। इसी से जाना जाता है कि भगवान् ने और बालकों की तरह

जन्म नहीं लिया किन्तु जैसे खम्भेसे प्रगट हो नृसिंहावतार धारण किया। वैसेही कौशल्या और देवकी के गर्भ से प्रकट हो राम कृष्णावतार धारण किये। और गौर होना, श्याम होना, बड़े होना यों सबही धर्म न होते तो अवतारही क्या हुआ तब तो निर्गुण स्वरूपही रहा सो भेद यही है कि परब्रह्म महानारायण पुरुषोत्तम की तो यह महिमा है कि अपनी अव्याहत शक्ति स्वरूप इच्छा से सृष्टि स्थिति संहाररूप लीला करते रहते हैं और वही भगवान् वैकुण्ठनाथ तथा शेषशायी स्वरूप से भक्तों का उद्धार तथा जगत् का पालन करते हैं। इनका मानव लीलापर आग्रह नहीं है किन्तु दिव्य विभूति तथा दिव्य लीला में बिराजमान रहते हैं और अवतार तो प्रधानतः मृत्युलोक में मानव लीला के अनुकरण मेंही है। सो कौमार पौगंडादि वयो भेद से रूप भेद दिखलाना और हर्ष शोकादि तथा युद्धों में रुधिर क्षतादि दिखलाना मानव लीला हैं ऐसेही क्षुधा पिपासा निद्रा आलस्य क्रोधादि भी मानवलीला केही अङ्ग हैं। प्रभु जब चाहते हैं तभी अपने दिव्य शरीर को अदिव्य पांच भौतिकवत् दिखलाते हैं यह उन लौकिक शरीरों की अधिक अलौकिकता है।

[७] प्रश्न यह है कि ईश्वर अवतार लेते हैं इसमें प्रमाण क्या?

प्रतद्विष्णुःस्तवते वीर्य्येण मृगोनभीमः कुचरोगरिष्ठाः।
यस्योरुषुत्रिषुविक्रमणेष्वधिक्षयन्तिभुवनानिविश्वा ॥
सू० मं० १ अ० २१ सू० १५४ मं० २

मृगवत् नृसिंह रूपधारी परमेश्वर अपने पराक्रम से स्तुति को प्राप्त होता है, पृथ्वी में बिचरता हैं नृसिंहादि रूप से और कैलाश में शिवरूप से निवास करता हुआ त्रिविक्रम अवतार में तीन पद न्यास से चतुर्दश भुवनों को कम्पायमान करता है।

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधानिदधेपदम् समूढ़मस्यपा ँ सुरे
ऋ० मं० ३ प्र० १ अ० मं० ९।

अमरेश त्रिविक्रमावतारी वामन जी इस विश्व को उल्लंघन करते हैं तीन पग धरते हैं एक भूमि दूसरा अन्तरिक्ष तीसरा स्वर्ग में इन के चरण में चतुर्दश भुवन ब्रह्माण्ड सम्यक् अन्तर्भूत होते हैं ॥

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमारो उतवाकुमारी ।
त्वंजीर्णो दंडेनवंचसि त्वंजातो भवतिविश्वतोमुखः ॥
अथर्व कां० १० अ० ४ मं० २७

हे भगवन् ! आपही भारती भवानी श्रीरूप वा मोहिनी रूप अवतारों से स्त्री रूप हैं तथा परशुरामादि अवतारों से पुमान् हैं वामन अवतार से कुमार हैं वा सनत्कुमारादि रूप से, और वैष्णवी दुर्गादि रूप से कुमारी हैं और आपही वृद्ध ब्राह्मण रूप होकर दण्ड करके (वश्चसि) गमन करते हो आपही कृष्णावतार में विश्वरूप होके प्रतीत होते हो ॥

इस मन्त्र में सबही इतिहास पुराण प्रतिपाद्य अवतारों की सूचना की है इस कारण यह मन्त्रही सबका मूल है । अब रामावतार को सुनिये ।

भद्रोभद्रया सचमानआगात् स्वसारंजारो अभ्येतिपश्चात्।
सुप्रकेतैर्द्युभिरग्निर्वितिष्ठन्नुशद्भिर्वर्णैरभिराममस्थात् ॥
सामवेदे उत्तरार्चिके १९ अ० २ खं० १ सू० ३

भद्र राम भद्रा सीताजी के साथ प्रगट हुए. तब जार रावण ने ऋषियों के रुधिर से उत्पन्न होने के कारण अपनी भामिनी की समान जानकी को हरण किया पीछे अन्तकाल में क्रोध से प्रज्वलित रावण ने सन्मुख होकर कुम्भकरण आदि के जीवात्माओं के साथ श्रीरामजीकी सामीप्यता को पाया ॥

हंसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत्
नृषद्वरसदृतसत् व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा
ऋतं बृहत् यजु० अ० १० मं० २४

वह भगवान् (हंसः) अहङ्कार हारी [शुचिषत्] आदित्य रूप से दीप्ति में रहने वाले [वसु] मनुष्यों के प्रवर्त्तक [अन्तरिक्षसत्] वायु रूप से आकाश में रहने वाले [होता] देवताओं के आह्वान करने वाले (वेदिषत्) अग्नि रूप से वेदीमें बैठने वाले (अतिथिः) अतिथि रूप से सब के पूजनीय [दुरोणसत्] आहवनीय से यज्ञ में बैठने वाले [नृषत्] रामकृष्ण वा प्राण रूप से मनुष्यों में होने वाले [वरसत्] उत्कृष्ट स्थान क्षेत्रादि में बैठने वाले (ऋतसत्) यज्ञ वा सत्य में स्थित होने वाले [व्योमसत्) मण्डलरूप से आकाश में स्थित होने वाले [अब्जः] मत्स्यादि रूप से जल में होने वाले [गोजः] पृथ्वी में चतुर्विध भूत ग्राम रूप से होनेवाले [ऋतजः] सत्य में होने वाले [अद्रिजः] पाषाण में मूर्त्ति और अग्निरूप से होने वाले वा मेघ जल रूपसे होनेवाले (बृहत्) महान् परब्रह्म हो ॥

इस एकही मन्त्र में अवतार और मूर्ति में भगवदाराधन सब कुछ सिद्ध होता है, तथा और भी बहुत से मन्त्र हैं जिनसे राम कृष्णादि के चरित्र स्पष्ट विदित होते हैं बिस्तार के भय से केवल थोड़ेही लिखे हैं ॥

इस विषय में हम अपने पाठकों को एक दृष्टांत भी सुनाते हैं—

एक राजा ने अपने मन्त्री से यह प्रश्न किया कि ईश्वर स्वयं अवतार क्यों लेता है ? भक्तों के कार्य के निमित्त दूसरे देवताओं को आज्ञा देदेनी चाहिये उनके द्वाराही कार्य्य होजायगा । मन्त्री ने कहा इसका उत्तर मैं कुछ दिनों में दूँगा, राजा ने कहा अच्छी बात है, तब मन्त्री ने राजा के छोटे पुत्र की सूरत की समान एक मोम की मूर्ति बनवाई, और राजकुमार को कुछदेर पहले राजा ने जो पोशाक पहरे देखा था, वही पोशाक उस मोम के बालक को पहराकर धाय से कहा कि जिस समय हम और राजा दोनों नावपर जल विहार करने को बैठें, उस समय तुम इस बालक को लाना । ठीक उसी समय पर जब कि सरोवर में राजा और मन्त्री नाव में बैठे विहार कररहे थे धाय उस कृत्रिम बालक को लेकर आई । राजा ने मन्त्री से कहा हमारे पुत्रको लेलो

मन्त्री ने नाव किनारे करके धाय के बालक को लेलिया, और चतुराई से राजा को देते समय उसको जल में छोड़दिया। ज्योंही बालक जल में गिरा कि राजा साथमेंही उसको निकालने को कूदे। तब साथ में मल्लाह भी कूदे, और राजा तथा बालक दोनों को निकाला। तब राजा कृत्रिम बालक को देखकर लज्जित और क्रोधित होकर मन्त्री से बोले कि यह क्या? तब मन्त्री ने कहा महाराजा! इतने मल्लाह पैरैये आदिकों के होते भी आप स्वयं क्यों कूदपड़े। राजा ने कहा पुत्र स्नेह के कारण मैं किसी को पुकार न सका स्वयंही कूदपड़ा। तब मन्त्री ने कहा इसी प्रकार ईश्वर भी भक्तों के स्नेह के कारण स्वयंही आता है उसे और से कहने का अवकाश कहां? यह उसी प्रश्न का उत्तर है जो आप ने पूँछा था कि ईश्वर स्वयं अवतार क्यों लेता है राजा यह सुनकर मौनहुए। अब इस विषय में हम अधिक लिखना नहीं चाहते कारण कि बुद्धिमान् को इशाराही काफी है॥

विद्यावारिधि पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र।

॥ मूर्त्ति पूजा ॥

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात् पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात् ॥ पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्। कृष्णात्परं किमपितत्त्वमहं न जाने॥

इस समय भारतवर्ष में एक बड़ी कठिन समस्या उठ खड़ी हुई है जहां देखो वहां इस बात की चर्चा रहती है कि प्रतीक उपासना नहीं है निराकार का प्रतीक में पूजन नहीं होसकता। आजतक ईसाई मुसलमानादि कई एक विधर्मियों के इस धर्मपर इसी विषय के आक्रमण होते रहते थे यद्यपि मुसलमान भी मक्के में संग अस्वत को बोसा देते, ईसाई

रोमन कैथलिक ईसाकी मूर्त्ति पूजते दूसरे सलीब का चिह्न लगाते बाइबिल चूमते ग्रन्थों के आगे शिर नवाते इत्यादि सब कुछ करके भी वैदिक-धर्मावलम्बियों को प्रतीक उपासना में कटाक्ष करके पुकारते थे, पश्चिम की ओर मुख करके ही निमाज पढना क्या एकदेशी उपासना नहीं है? । अस्तु इन बातों से कुछ भी हमारी हानि नहीं थी, कारण कि जिनका हमारा व्यौहार देश धर्म एक नहीं उन की बातों से हमारी कुछ भी क्षति नहीं थी, परन्तु अब थोडे समय से एक दयानन्दी पन्थ चला है, उसकी भी यही घोषणा है कि प्रतिमा में भगवत् का अर्चन वैदिक सिद्धान्त नहीं है कारण कि ईश्वर का कोई आकार नहीं है यद्यपि उपासना विना आकार के नहीं होसक्ती है, यह सिद्धान्त है, कारण कि वेदान्त दर्शन में लिखा है कि (ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात्, व्या० सू०) अर्थात् प्रतीक में ब्रह्मदृष्टिं करनी, बिना इसके उपासक किसके समीप होकर उपासना करै, और सम्पूर्ण यह मूर्तिमान जगत् अमूर्त्त को किस प्रकार जानसक्ता है कारण कि वह मन वाणी का विषय नहीं है, यदि केवल हम यह कहैं कि वह सर्वथा निराकार है अनीह है तो इस निराकार से साकार जगत् किस प्रकार हुआ है कारण कि जो सर्वथा कुछ नहीं है उससे कभी कुछ नहीं होता है परन्तु ईश्वर ऐसा नहीं वह तो—

अणोरणीयान् महतोमहीयान् उपनि० । नमो ह्रस्वाय च वामनाय च ॥ यजु०

अर्थात् अणु से अणु और महान् से महान् है उस बड़े छोटे के निमित्त नमस्कार है और दूसरे उपनिषद् भी कहते हैं कि [द्वावेव ईश्वरस्य रूपे मूर्त्तश्चामूर्तश्चेति] ईश्वर के मूर्त्त अमूर्त्त दो रूप हैं और उपासना में (सपर्य्यगात् के मन्त्र में उसको अकाय कहकर भी वेद स्वयम्भू कहता है, तथा दूसरे स्थान में भी वेदही कहता है कि—

प्रजापतिश्चरतिगर्भेऽन्तरजायमानोबहुधाविजायते । यजुः

अर्थात् प्रजापति गर्भ के अन्तर विचरण करता हुआ अजायमान होकर भी अनेक प्रकार से प्रकट होता है, और अवतार प्रकरण में उसके अनेक

अवतार प्रतिपादन करचुके हैं, तो इस समय जो प्रतिमा निर्माण की जाती है वह सगुणब्रह्म की है उपासना के फल प्रदान को ही वह स्वयम्भू है,और संसारी पुरुषों से विलक्षण रूप होकर वह दिव्य शरीर से प्रकट हो भक्तिरस-को पूर्ण करता और उपासकों की परलोक गति सुधारता है। ध्यान रहे! कोई निराकार वस्तु विना साकार हुए कार्य नहीं करसकती जैसे अग्नि का-ष्ठादि सब स्थानों में व्याप्त भी है परन्तु विना प्रकट हुए जलाने को समर्थ नहीं है, जगत् में वेद मर्य्यादा स्थापन को प्रभु ने प्रकट होकर अनेक लीला करीं, भक्तजन उसी अवतार की प्रतिमा को बनाकर भक्तिभाव से अर्चन करते हैं, पत्थरकी पूजा कोई सनातनधर्मी नहीं करता यदि पत्थरकी पूजा करता तो पत्थर की स्तुति भी करता कि, हे पत्थर! पहाड़ से तुम आये कारीगर ने तुमको गढा है इत्यादि परन्तु हम लोग तो मूर्ति में उस को "नमोस्त्वनन्ताय सहस्रमूर्तये" आदि स्तोत्र पाठकर ईश्वर का अर्चन करते हैं, मूर्ति कभी बनाये से नहीं बनती तोड़े से नहीं टूटती, वह नित्य सिद्ध है। एक छोटे पत्थर के खण्ड में कारीगर क्या नहीं निकाल लेता? सभी कुछ निकालसक्ता है परन्तु जो आवरण मूर्ति को घेरे हुए है केवल उनको ही अलग करता है मूर्ति पर तो हाथ भी नहीं लगाता और यदि कहो कि मूर्ति तोड़ी जाती है, टूटजाओ उसके खण्डित होने से उपास्य देव तो नहीं टूटता, हम दूसरी आकृति में उपासना करेंगे कारण कि वह सर्वव्या-पक है यदि कहो माता पिता चैतन्यादि में क्यों नहीं पूजते तो इन चैतन्य शरीरों में ईश्वर के सिवाय काम क्रोधादि भी व्याप्त हैं और मूर्ति में तो केवल ब्रह्म ही व्याप्त है, इस कारण यह निर्विकार उपासना है, जैसे क, ख, ए, बी, सी, डी, अलिफ बे, ते, से इत्यादि जो शब्द हमने एक आकार में कर लिए हैं तब कोई कहै कि असली क बताओ तो क्या कोई बता सक्ता है कभी नहीं और (क) ऐसा लिखने से क्या कभी कोई विद्वान् यों कहैगा कि कागज के ऊपर स्याही का कुछ चींत मकोड़ा है कभी नहीं बल्कि देखतेही कह उठेगा कि 'क' अब कहिये कल्पित अक्षरों से लिखी हुई चिट्ठी मनका सब भाव प्रगट करसकती है या नहीं जब करसकती है

तो ब्रह्म जो सर्वव्यापक है उसकी मूर्त्ति में उपासना क्यों न हमारे मनोरथ पूरा करेगी, जैसे विद्वान्को वह अक्षर 'क' दीखता है इसी प्रकार भक्त उपासक को मूर्ति ब्रह्म रूप दीखती है जैसे मूर्ख को अक्षर चीत मकोडा दीखता है इसी प्रकार अज्ञानियों को पत्थर दीखता है, निराकार कहते-हुए आज कल के असभ्य पाखण्डी निन्दा में रत रहते हैं और साकार उपासक मंदिर के दर्शन करते ही 'जयराम—नारायण' आदि नाम उच्चारण करते और वहां ईश्वर की विशेष सन्निधि आदि मानकर दुष्कर्म से बचते हैं। तथा अवतारादि की प्रतिमा देखकर उनके चरित्र स्मरण कर गद्गद होजाते हैं, जो भगवदाराधन मूर्ति में नहीं करते उनसे पूछो कि तुम अपने मा बाप का फोटो देखकर क्यों उनका स्मरण करते हो और क्यों आप के नेत्र आंसुओं से डबडबा जाते हैं, साफ कहना चाहिए कि वह कागज और स्याही है तथा दयानन्द सरस्वती जो एक साधारण पंडित हुआ है उसकी तसवीर समाजी क्यों बँटवाते हैं क्यों नहीं उसे कागज और स्याही समझते। पर यह तो सब कुछ किया परन्तु जहां कहीं ईश्वर का अर्चन आवै वहां शिर हिला उठैं धन्य है नाम उच्चारण भी तो वाणी का विषय है ॐकार भी एक प्रकार से लिखा जाता है और उससे ओंकार ही का बोध होता है, अब यह तो युक्तिसंगत होगया कि मूर्ति से ईश्वरही का बोध है, अब यह देखना है कि वेद में कहीं ईश्वर की सावयव मानकर स्तुति की है वा नहीं तथा उसको प्रतिमारूप लिखा है वा नहीं तब प्रथम ऋग्वेद—

कासीत् प्रमा प्रतिमा किं निदानं नमाज्यकिमासीत्परिधिः। कआसीच्छन्दः किमासीत् प्रउगंकिमुक्थंयद्देवादेवादेवमयजन्तविश्वे। ऋ० अ० ८ अ० ७ मं० १८०

सबकी यथार्थ ज्ञान बुद्धि कौन है और प्रतिमामूर्ति कौन है और जगत् का कारण कौन है और घृत के समान सार जानने योग्य कौन है, और सब दुःखों का निवृत्ति कारक और आनंद युक्त प्रीति का मारा परिधि [सीमा] कौन है और इस जगत् का पृष्ठावरण कौन और स्वतन्त्र वस्तु और स्तुति करने योग्य कौन है यहांतक तो इसमें प्रश्न हैं, अन्त में सबका उत्तर इसमें

है कि जिस परमेश्वर मूर्ति को इन्द्रादिकोंने पूजा की है पूजते हैं और पूजेंगे वोह परमेश्वर प्रतिमारूप से जगत् में स्थित है और वोही सारभूत घृतवत् स्तुति करने के योग्य है तो अब कोई नहीं कहसकता कि मूर्त्तिपूजन वेद में नहीं है क्योंकि यह ऋग्वेद का मन्त्रही कहता है कि वोह प्रतिमारूप है बस यही अर्थ है कि उस परमेश्वर की समान कोई नहीं है और देखो--

अरंदासो नमीढुषेकराण्यहं देवायभूर्णयेऽनागः।
अचेतयदचितोदेवोऽअर्य्यो गृत्सरायेकवितरोजुनाति
ऋ० मं० ७ अनु० ५ सूक्त० ८६ मं० ७

मन्त्रार्थः--अनागा अहं भूर्णये मीढुषे देवाय अरं कराणि दासोन दासइव निषिद्धाचरण वर्जित मैं दासवत् देव के अर्थ अलंकार करता हूँ (भूर्णये मीढुषे) वो देव बहुतसी धन की वृद्धि करनेवाले हैं जैसे स्वामी का सेवक स्रक् चन्दन वस्त्रादि से अलङ्कार करता है तद्वत् मैं भी बहुत धन देनेवाले देव को अलङ्कार करता हूँ इस मन्त्र में दास की उपमा अहं शब्दार्थ करता को दीगई है और दास शब्द से परे नकार है तिससे उपमार्थ में है इस मन्त्र में देव को अलङ्कार करना लिखा है. और विना समीप हुए अलङ्कार नहीं होसकता समीपस्थ होना उपासना से युक्त है और निराकार में अलङ्कारादि करना असम्भव है, इससे प्रतिमारूप आधार में ही देव परमात्मा के अलङ्कारादि हैं और उपासना भी तभी होसकती है [प्रश्न] इस मन्त्र में तो आचार्यादि देवता मानकर उनका अलङ्कार कहा है कुछ प्रतिमा में अलङ्कार नहीं कहा (उत्तर) इसका उत्तर यह श्रुतिही देती है (अचेत यदचितो देवो अर्य्य) स्वामी देव अचेतनों को चेतन करता है अपने जीव रूप से प्रवेश करके [रायेगृत्सं कवितरो जुनाति] इस प्रकार धन की प्राप्ति के अर्थ प्राण के भी प्राणरूप देव को अत्यन्त बुद्धिमान् [जुनाति] आश्रय करता है इस मन्त्र में प्रतिमा में परमेश्वर पूजन की काम्य कर्मता प्रतीत होती है। इन वेद के प्रमाणों से यह सिद्ध हुआ कि वह शृङ्गार कियाजाता और जगतकी प्रतिमा है, शतपथ में भी लिखा है कि--

अथैतदात्मनः प्रतिमामसृजद्यज्ञम् । श० प० ११।१।८।३ यज्ञो वै विष्णुः इति श्रुतेः ।

उसने अपनी प्रतिमा प्रगट की जिसको यज्ञ कहते हैं (सहस्रस्य प्रतिमासि यजु०) हे ईश्वर ! आप सहस्रों की प्रतिमा हो तथा " याते रुद्र शिवा-तनुः यजु० " और " बाहुभ्यामुततेनमः " हे रुद्र ! जो आपका कल्याण-कारी शरीर है तथा आपकी भुजाओं को प्रणाम है, रुद्राध्याय में और भी अनेक मन्त्र ऐसे हैं जो शिव का पूजन करते हैं (विल्मिने गिरिशन्त) इन दो पदों से बेलपत्र के धारण करनेवाले पर्वत पर शयन करने वाले यह स्पष्ट ही है, इत्यादि इन्हीं प्रमाणों से मूर्त्ति में भगवत की आराधना स्पष्ट है परन्तु और भी कहते हैं पाणिनि का सूत्र है ' जीविकार्थे चापण्ये, ॥ ५ । ३ । ९९ कनो लुक् स्यात्, अर्थात् जो प्रतिमा जीविका के निमित्त हो पुजारियों की जीविका जिससे चलती हो और वह बेची न जाय वहां कन् प्रत्यय का लोप हो इस पर भाष्यकार ने शिवः स्कन्धः आदि उदाहरण दिये हैं इस से स्पष्ट है कि शिवके कहने से शिव की पूजनीय मूर्त्ति होगई, यही बात यहां भी लगती है । ' नमः शिवाय च शिवतराय च यजु० पूजनीय शिव के निमित्त प्रणाम है जब कि उसकी प्रतिमा है, उसने अपनी प्रतिमा प्रगट की इत्यादि प्रमाण विद्यमान हैं तब फिर किसी प्रकार भी मूर्त्ति में आराधना अनुचित नहीं । इस समय प्रसंग अज्ञाता एक मन्त्र उच्चारण करते फिरते हैं जिस में वह कहते हैं कि प्रतिमा पूजन का निषेध है—

न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाममहद्यशः । यजुः ।

उसकी प्रतिमा नहीं जिसका नाम बड़े यशवाला है, इस मन्त्र में प्रतिमा शब्द का अर्थ मूर्त्ति का नहीं है कारण कि ऊपर से ईश्वर की अनन्तता का प्रसंग चला आता है यहां उपासना का प्रकरणही नहीं है यदि उपासना प्रकरण में आता तो कथञ्चित् मूर्त्तिका अर्थ आभी जाता, पर उपासना में तो अग्नि चन्द्र सूर्योदि भी उसीको लिखा है जैसे [तदेवा-ग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदुचन्द्रमाः] अग्नि आदित्य वायु चन्द्रमा वही है

फिर प्रतिमा में क्या रहा यहां तो उसका यह अर्थ है कि उसका उपमान कोई नहीं प्रतिमा में अर्चन का निषेध नहीं है कारण कि इसी मन्त्र में आगे 'हिरण्यगर्भइत्येषः' ऐसा पाठ है अर्थात् वह हिरण्यगर्भ, जब हिरण्यगर्भ ब्रह्मारूप वही है, फिर अकार में सन्देह क्या है ? इस से इस मन्त्र से निषेध नहीं आता यदि प्रतिमा का निषेध होगा तो 'ब्राह्मणोस्य मुखमासीत्' और सम्वत्सरस्य प्रतिमासि' । और ब्राह्मण वाक्य शब्द में विरोध आवैगा इससे वहां अर्थ उपमान का है कारण कि उपासना का प्रसङ्ग नहीं है यदि प्रतिमा का अर्थ यहां मूर्त्ति का करोगे तो यह निषेध किस प्रकार का है क्या उसकी प्रतिमा थी जिसका ईश्वर ने निषेध किया इससे यहां उपनाम का अर्थ है। उसको धूप, दीप, चन्दन, पुष्प चढाय हम अपने हृदय का भाव प्रगट करते हैं जैसे अभी महारानी की जुबली में सर्वत्र रोशनी की गई जिले के हाकिम महारानी के स्थान में सत्कृत किए गए नजरें दिखाई गई महारानी को इसमें से किसी बातकी भी आवश्यकता नहीं थी कारण कि सब उसी का है; परन्तु अपनी भक्ति दिखाने को सब ने भेंटादि दे अपने हृदय का उत्साह पूर्ण किया इसी प्रकार हरिपूजन में हम सब अपने हृदय का भाव प्रगट करते हैं वही स्वरूप हृदय में प्राप्त होकर पाप दूर करता है यह बहुतही संक्षेप से लिखा है इतिहास पुराण में तो उपासना की कमी नहीं है और (तम्मितिहासश्च पुराणञ्च इति अथर्व०) अथर्व वेद में भी इतिहास और पुराण का प्रमाण मिलता है तब भगवत की पूजा वेद विहित होने में सन्देह नहीं विशेष विस्तार दयानन्द तिमिरभास्कर में देखना चाहिए वाल्मीकि में लिखा है कि–

एतत्तु दृश्यते तीर्थं सागरस्य महात्मनः ।
सेतुबंध इति ख्यातं त्रैलोक्येन च पूजितम् ॥
एतत्पवित्रं परमं महापातकनाशनम् ।
अत्र पूर्वं महादेवः प्रसादमकरोद्विभुः ॥

अर्थात् हे जानकी ! महात्मा सागर का यह सेतुबन्ध तीर्थ दीखता है जो त्रिलोकी में पूजित होगा, यह परम पवित्र और महा पाप दूर करने वाला है पूर्व काल में इसी तीर्थ पर [मेरे स्थापन करने से] विभु महादेवजी ने मुझपर कृपा की थी । आगे उत्तरकाण्ड में भी लिखा है कि—

यत्रयत्र स यातिस्म रावणो राक्षसेश्वरः ।
जाम्बूनदमयं लिङ्गं तत्रतत्रस्म नीयते ॥
वालुकावेदिमध्ये तु तल्लिङ्गं स्थाप्य रावणः ।
अर्चयामास गन्धैश्च पुष्पैश्चामृतगन्धिभिः ॥

अर्थात् रावण राक्षसेश्वर जहां जहां जाता था वहां वहां जाम्बूनद मय लिङ्ग साथ जाता था ॥ १ ॥ रावण उस लिङ्ग को बालूकी वेदी के मध्य में स्थापन करके अमृत गन्धवाले पुष्पों से पूजन करता था ॥ २ ॥ इत्यादि बहुत स्थानों में मूर्ति पूजन विद्यमान है, केवल दिग्दर्शन मात्र यहां लिखदिया है ॥

विद्यावारिधि पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र.

॥ श्राद्ध ॥

ज्ञातंकाणभुजं मतंपरिचितैवान्वीक्षिकीशिक्षिता
मीमांसाविदितैव सांख्यसरणिर्योगे वितीर्णामतिः ॥
वेदान्तःपरिशीलितः सरभसं किन्तुस्फुरन्माधुरी
धाराकाचननन्दसूनुमुरलीमच्चित्तमाकर्षति ॥ १ ॥

जब तक इस भारतवर्ष में वैदिक कर्मकाण्ड का यथावत् प्रचार था तब-तक किसी प्रकार की वैदिक कर्म में शङ्का नहीं थी, पर जब से वह क्रियायें छूटगई तब से भिन्न २ प्रकार के सन्देह होनेलगे, उनमें से आजकल एक यह भी प्रश्न उठनेलगा है कि श्राद्ध कर्म वैदिक है या अवैदिक

और वह किस कर्म का नाम है, और पितरों के उद्देश्य से जो किया जाता है तो वह जीतों के निमित्त किया जाता है या मरों के निमित्त किया जाता है और किस प्रकार पहुँचता है आज इन्हीं कितनी एक बातों की मीमांसा करनी है जिस समय हम श्राद्ध को विचारने बैठें तो पहले हमको यही सोचना चाहिये कि श्राद्ध का उद्देश्य क्या है ! तो यही कहना होगा कि 'श्रद्धयाक्रियतेतच्छ्राद्धम्' अर्थात् पितरों के उद्देश्य से जो श्रद्धापूर्वक कियाजाय उस को श्राद्ध कहते हैं जब पितरों के उद्देश्य से करने का नाम श्राद्ध है तब यह वैदिक कर्म है या नहीं इसका निर्णय करते हैं ॥

मातृदेवोभव पितृदेवोभव आचार्यदेवोभव तै० ॥
देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम् तैत्तरी० ॥

अर्थात् माता पिता आचार्य की उपासना करनी चाहिये देवता और पितृ कर्म में प्रमाद नहीं करना चाहिये।

कुर्यादहरहःश्राद्धमन्नाद्येनोदकेन वा। पयोमूलफलैर्वापि-
पितृभ्यः प्रीतिमावहन् ॥ मनु० अ० ३ श्लो० ८२
एकमप्याशयेद्विप्रंपित्रर्थे पांचयज्ञिके ॥

पितरों से प्रीति चाहने वाला तिल यव इन करके और पय मूल फल जल इससे श्राद्ध करे, पितर के अर्थ एक ब्राह्मण को भोजन करावे।

आयन्तुनः पितरः सोम्यासोऽग्निष्वात्ताः पथिभिर्देव-
यानैः यजुः १९। ५८॥

अग्नि कर्म को प्राप्त हुए हमारे पितर देवयान मार्ग से आवें। यजुर्वेद।

इन मन्त्रों से यह स्पष्ट प्रतीत होगया कि पितृ कर्म वैदिक है, इसी के विस्तार में और भी बहुत से मन्त्र हैं। अब इस बात का विचार करना चाहिये कि यह जीतों के निमित्त है वा मरों के। इसमें नीचे लिखे वेद के मन्त्र प्रमाण दिए जाते हैं।

येसमानाःसमनसःपितरोयमराज्ये तेषांल्लोकः स्वधानमो यज्ञोदेवेषुकंल्पताम् । अ० १९ मं० ४५

जो सपिण्ड मनस्वी पितर यमलोक में हैं स्वधा नामक अन्न उनके दृष्टिगोचर हो पितृयज्ञ वसु रुद्र आदित्य देवताओं में वास करो ।

येसमानाःसमनसोजावाजीवेषुमामकाः ।
तेषांश्रीर्मयिकल्पतामस्मिंल्लोकेशतंसमाः ॥ ४६ ॥

जो प्राणियों के मध्य समदर्शी मनस्वी हमारे सपिण्ड पितर हैं उनकी धन सम्पत्ति सौ वर्ष तक हमारे पास निवास करो ॥ ४६ ॥

द्वेसृतीअश्रृणवम्पितणामहन्देवानामुतमर्त्यानाम् ।
ताभ्यामिदंविश्वमेजत्समेतियदन्तरापितरम्मातरञ्च ॥४७॥
प्रजापतिर्ऋषिःत्रिष्टुप्छन्दः देवयानपितृयानमार्गौदेवते

मैंने मनुष्यों देवताओं और पितरों के दो मार्ग को सुना जो कि स्वर्ग और पृथिवी के मध्य वर्त्तमान हैं यह क्रियावान विश्व उन देवयान पितृयान मार्गों से जाता है उन मार्गों के लिये श्रेष्ठ होम हो ॥ ४७ ॥

उदीरतामवर उत्परास उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः असुंयईयुरवृकाऋतज्ञास्तेनोऽवन्तु पितरोहवेषु ऋ० मं० १० अ० १ सू० १५ मं० १ ।

जो पितर अवर अर्थात् पृथ्वी में स्थित हैं वे ऊपर गमन करो और जो स्वर्ग लोक में स्थित हैं वे प्रच्युति रहित होवें, अथवा अधिकार की क्षीणता से मुक्त होवें और जो मध्यस्थान में स्थित हैं वे उत्तम लोक का आश्रय करैं, वे पितर सौम्य हैं, अर्थात् कर्म्म में अंगभाव को प्राप्त होकर सोमको संपादन करते हैं और स्थूल शरीर को त्यागकर प्राणमात्र मूर्तिवाले हैं (अवृकः) अर्थात् शत्रुभाव रहित यथावत् सत्य वा यज्ञ के

ज्ञाता हैं वे पितर आवाहन स्थान में आगमन करो, माध्यमिक यम है इस कारण पितरों को माध्यमिक ही मानते हैं क्योंकि यमराज मध्यस्थान में स्थित हैं और तदनुवर्ती पितर भी मध्यस्थान में स्थित हैं, यम को पितृ-राज्य होने में नीचे लिखा मन्त्र प्रमाण है:-

वैवस्वतंसंगमनं जनानां यमं राजानं हविषादुवस्य
ऋ० मं० १० अ० १ सू० १४ मं० १

प्राणीमात्र का यम के प्रति गमन होता है तिस यमराज को हवि से परिचरण कर।

ये अग्निष्वात्ता ये अनग्निष्वात्ता मध्येदिवःस्वधयामादयन्ते।
तेभ्यःस्वराडसुनीतिमेतां यथावशन्तन्वंकल्पयाति॥
यजु० अ० १९ मं० ६०

जो पितर अग्नि से दग्ध हुए और्ध्वदेहिक कर्म को प्राप्त हैं और जो पितर अग्नि में दग्ध नहीं हुए अर्थात् श्मशान कर्म को प्राप्त नहीं किया और स्वर्ग में अपने कर्मोपार्जित अन्न से तृप्त रहते हैं जिस कारण ईश्वर उन पितरों के लिए इच्छानुसार इस प्राणयुक्त शरीर को देता है॥ ६०॥

पुनन्तुमापितरः सोम्यासः पुनन्तुमापितामहाःपुनन्तु प्रपितामहाः पवित्रेणशतायुषापुनन्तु मापितामहाः पुनन्तु प्रपितामहाःपवित्रेणशतायुषाविश्वकर्मायुर्व्यश्नवै।
य० अ० १९ मं० ३७

सोम के योग्य पितर पूर्णायु के दाता पवित्रा से मुझको शुद्ध करो पितामह मुझ को पवित्र करो, प्रपितामह पवित्र करो, पितामह पूर्णायु के दाता पवित्रतासे मुझको शुद्ध करो, प्रपितामह शुद्ध करो, पूर्ण आयु को प्राप्त करूं।

येनिखातायेपरीप्तायेदग्धाये चोद्धृताः।
सर्वांस्तानग्नआवहपितन्हविषेअत्तवे। अथर्वकां०
१८। २ मं० ३४

हे अग्ने ! जो पितर गाड़े गये जो पड़े रहे जो अग्निसे जलाये गये जो उद्धृत [फेंके गये] हैं उन सबको हवि भक्षण करने को सम्यक् प्रकार से लेजा।

यास्तेधानाअनुकिरामितिलमिश्राः स्वधावतीः।
तास्तेसन्तुविभ्वीःप्रभ्वीस्तास्तेयमोराजानुमन्यताम् ॥
अ० कां० १८ अ०। ३ मं० ६९॥

जो मैं तिल मिश्रित धान यह जल सहित देता हूँ वह इस मृतक को सुख कारक हो और राजा यम इसको माने।

अब यह बात तो ठीक होगई कि मृतकों के निमित्त जो काम किया जाय उसका नाम श्राद्ध है, अब यह विचार है कि वे पितर किस २ स्थान में स्थित हैं तब यही निर्णय वेद के अनुसार करते हैं।

अथत्रयोयावल्लोका मनुष्यलोकःपितृलोको देवलोकइति
श० १४। ३। २४

तीन भोग भूमियें हैं मनुष्यलोक, पितृलोक, देवलोक इनमें जीव कर्म्म के अनुसार प्राप्त होता है। और केवल निषिद्ध कर्म्म का कर्त्ता जीव नरक को ही प्राप्त होता है [विधूर्ध्वभागे पितरो वसन्ति सिद्धान्त शिरोमणौ] अर्थात् चन्द्रमा के ऊर्ध्वभाग में पितरों का निवास है, जब कि यह वार्त्ता स्फुट हुई तो सन्देह नहीं रहा, किन्तु और भी प्रमाण लिखते हैं।

स्वधा पितृभ्यः पृथिवीषद्भ्यःस्वधापितृभ्योन्तरिक्षषद्भ्यः
स्वधापितृभ्योदिविषद्भ्यः। अथर्व

इन प्रमाणों से पृथिवी अन्तरिक्ष और स्वर्गलोक में भी पितरों की स्थिति लिखी है, अब यह विचार करना चाहिए कि पितरों को हमारा दिया पहुँचता है या नहीं, या सब कोई अपना दियाही प्राप्त करते हैं और पहुंचता है तो कैसे (श० १४। ७। २। ७। में लिखा है कि (यत्कर्म कुरुते तदभिसम्पद्यते) जो यह पुरुष कर्म्म करता है उससे अपूर्व उत्पन्न होता है और वह अपूर्वही कर्त्ता को फल प्राप्त कराता है और उस अपूर्व के साथही यह जीव परलोक को गमन करता है और सायं प्रातः जो हवन में आहुति दीजाती है उनका सूक्ष्म भूत परिणाम अन्तःकरण में हर्ष उत्पन्न करता है, और सूक्ष्मभूत मात्राओं से सूक्ष्मरूप होकर अदृष्ट फल के हेतु फल पर्य्यंत अयस्थायी रहता है और यह अपने फल के साथ जीव का सम्बन्ध करनेवाला होता है। यथाः-

तेवाएत आहुतीहुते उत्क्रामतस्तेअन्तरिक्षमाविशतस्ते अन्तरिक्षमेवाहवनीयं कुर्वातइत्यादि० श० ११।६।२।६।

मरण समय में इस प्राणी की तीन गति होती हैं, देवलोक, पितृलोक, अधोलोक उस में पितृलोक का गमन कहते हैं कि-

अथयेयज्ञेनदानेन तपसालोकंजयन्तितेधूममभिसमर्चन्ति धूमाद्रात्रिंरात्रेरपक्षीयमाणपक्षमपरपक्षान्यान्षण्मासान्दक्षिणादित्यएतिमासेभ्यः पितृलोकमित्यादि० श०।

यज्ञ दानादि कर्म्म करनेवाले धूम से रात्रि में कृष्णपक्ष उससे दक्षिणायन और वहां से पितृलोक को गमन करते हैं, और जो सत्कर्म्म नहीं वे कीटादि योनि को प्राप्त होते हैं, इससे यह सिद्ध हुआ कि जो मनुष्य कर्म करता है उससे कोई अदृष्ट उत्पन्न होता है जो परलोक में साथ जाता है, अब यह देखना है कि और प्राप्त करसकता है वा नहीं। तो इसका यही उत्तर है कि अवश्य मिलता है जैसे बन्धन में पड़े हुए के

निमित्त उसके कुटुम्बी उसके मुक्त करने का उपाय कर उसे छुडाते हैं इसी प्रकार पुत्र पिता को परलोक के दुःखसे छुड़ाता है, पुत्र के पिता के निमित्त किए कर्म का अदृष्टही परलोक में प्राप्त होता है। सा० ब्रा० में लिखा है कि--

अङ्गादङ्गात् सम्भवसि हृदयादधि जायसे।
आत्मासि पुत्रमाभृथाः सजीव शरदां शतम्॥

अर्थात् हे पुत्र तू मेरे अंग २ और हृदय से उत्पन्न होता है, आत्मा रूप है, सौ वर्ष जी।

पुनन्तु मा पितामहाः पुनन्तु प्रपितामहाः। यजुः॥
मानो वधीः पितरम् मातरम्। ऋ०॥

दादा परदादा मुझे पवित्र करें, हे ईश्वर हमारे पिता माता को मत मार इत्यादि प्रमाण से एक की प्रार्थना दूसरे को लाभ पहुँचाती है, और ऊपर की श्रुति से पुत्र पिता का रूपही है और उस पुत्ररूप धन का जो द्रव्य है वह भी उसी का है इससे जो कुछ क्रिया करता है वह पिता के उद्देश्य होने से उसी को प्राप्त होती है, इसी प्रकार पोता पुत्र का रूप है यह तीन पीढी का विशेष सम्बन्ध होने से इनका भाग पितरों को विशेष प्राप्त होता है जैसे चंपा के फूलों का पात्र चम्पा के फूल चले जाने पर भी सुगंधित रहता है इसी प्रकार जीव के निर्गत होजाने पर भी यत्किंचित् सम्बन्ध शेष रहता है पंचाग्नि विद्या के द्वारा जैसे जीव की गति ऊर्ध्वगामी होकर चन्द्रलोक मेघ सूर्य्य की किरण भूमि में होती है और उसका पुण्यरूप अदृष्ट उसके साथ रहता है, वही उसे ऊपर नीचे भ्रमाता है और जो उसी का सम्बन्ध आत्मारूप पुत्र उसके निमित्त कुछ करता है उसका पुण्य अदृष्ट रूप से पितर को प्राप्त होता है, कारण कि वह उसी का धन है और जो अपने हाथों के किए कर्म से नीचे गिरता है वह बेटे पोते परपोते के छः हाथों के किए सुकृत से निरन्तर पितरलोकमें सुख भोगता है जैसे मनुष्यलोक में मानवी शक्ति है ऐसेही देव और

पितरलोक में उनकी पृथक् शक्ति है वह भाग होने से अनेक रूप धारण कर सकते हैं, आत्मा ही इनका रथ आदि होता है बुलाने पर प्राप्त होते हैं जिस प्रकार शहद की मक्खी पुष्प में से मधु लेजाती है और पुष्प में कोई विकार नहीं आता इसी प्रकार ब्राह्मणों के निमित्त जो दिया हुआ अन्न है उसका सार भाग दिव्य पितर लेजाते हैं बहुत क्या शुद्धिवालों को दर्शन भी होता है, भीष्मजी को पिता के हाथ का और जानकी महारानी को मुनियोंके मध्यमें राजा दशरथ का दर्शन हुआ था, पिण्डदान जो किया जाता है वही मानों पितरों के आकर्षण पूजन का प्लानचेट है, यदि कहीं किसीका जन्मभी हुआ है तो दिव्य पितर उसको यथार्थ रूप से जानते हैं वह पितरों के उद्देश्य से दिया हुआ दिव्य पितरों के समीप उपस्थित होता है अपनी सर्वज्ञता से उस पुण्य के फल को उस जीव के निमित्त प्राप्त करते हैं और वह जीव को सुख देने के निमित्त प्राप्त होता है इसी कारण अथर्व वेद में तीन स्थान भूमि अन्तरिक्ष और दिव्य इन तीन लोकों में पितरों का निवास कहकर तीनों स्थान में अन्न को स्वधा रूप लिखा है, उस फल से दिव्यलोक के पितर दीर्घकाल तक निवास करें अन्तरिक्ष के ऊर्ध्वलोकको जांय और भूमि के सुख पावें इसमें वेदही प्रमाण है कारण कि परोक्षका ज्ञान वेदसे होता है जिस प्रकार दिया हुआ तार वहीं रहता है और खटका उस स्थान के तारघर में पहुँचता है जहां को तार दियाजाय वहांसे भेजा द्रव्य कोई चपरासी वहां पहुँचाता है जहां पानेवाला स्थित है इसी प्रकार वैदिक धर्मका तार सब लोकों में प्राप्त है वह शब्दात्मक संकल्प होतेही उसका फल पितृलोक में उपस्थित है कागज की भांति यह अन्नादि यहीं है पर फल वहां उपस्थित होजाता है उस फल को उस जीवके निमित्त दिव्य पितर प्रदान करते हैं प्रथम तो शास्त्र की विधि के अनुसार जिसका और्ध्वदैहिक कर्म हुआ है उसकी कभी दुर्गति नहीं होती, दशगात्र क्रिया से उसका शरीर सम्पादन होता है और यदि दैवात् किसी के अतिशय कुत्सित कर्म हुए तौ भी वह यदि कहीं कुत्सित योनि में जन्म पावे तथापि उसको अनेक प्रकार के सुख प्राप्त होते हैं, एक पशु दिन

भर दुःख पाता और एक सौ प्रकार से सुखों से पूर्ण है, इत्यादि; परन्तु वेदकी आज्ञा से जो दिया जाता है, हवन किया जाता है, वह सब पितरों को प्राप्त होता है, यदि कोई कहै ब्राह्मणों को जिमाये हुए अन्न का कौनसा भाग प्राप्त होता है तो यही उत्तर है कि हमारे यहां तो पुण्य का फल प्राप्त होता है, पर तुम जो किसी भूंखे को खिलाते हो इसमें तुमको कौनसा भाग प्राप्त होता है इत्यादि अब श्राद्ध विधायक वेद मन्त्र लिखे जाते हैं ॥

यौतेश्वानौ यमरक्षितारौ चतुरक्षौ पथिरक्षी नृचक्षसौ ।
ताभ्यामेनंपरिधेहिराजन्त्स्वस्तिचास्माअनमीवंचधेहि॥
ऋ० मं० १० अ० १ सू० १९ मं० ११

हे राजा यम ! जो तुम्हारे दोनों कुत्ते हैं उनको इस प्रेत की रक्षा करने को भेजो वे श्वान कैसे हैं कि यमराज के ग्रह के रक्षक हैं चार अक्षियों से युक्त हैं मार्ग के रक्षा करने वाले हैं मनुष्य जिनकी बड़ाई करते हैं सो इन कुत्तों को भाग देते हैं इस प्रेत का कल्याण और रोगाभाव संपादन करो।

येचेहपितरो येचनेह यांश्चविद्मयां उचन प्रविद्म ।
त्वंवेत्थयतितेजातवेदः स्वभाभिर्यज्ञंसकृतंजुषस्व ॥
यजुः अ० १९ मं ६७

(च) और (ये) जो (पितरः) पितर (इह) इस लोक में देह को धारण करके वर्त्तमान हैं (चये) और जो (इह) इस लोक में (न) नहीं हैं अर्थात् स्वर्ग में हैं (चये) और (यान्) जिन पितरों को [विद्म] हम जानते हैं [च] और [यान्] जिन पितरों को (न) नहीं (प्रविद्म) जानते हैं स्मरण न होने से [जातवेदः] हे सर्वज्ञअग्ने ! (ते) ते वे पितर [यति] जितने हैं (त्वम्) तुम (उ) ही (वेत्थ) उनको जानते हो (स्वधाभिः) पितरों के अन्नों से [सुकृतं] शुभ यज्ञ को (जुषस्व) सेवन कर ६७। यहां इह शब्द से जीते पितरों का ग्रहण नहीं होता किंतु

जिन्हों ने कर्म वश इस लोक में देह धारण किया है अन्यथा न प्रविद्म इसका शब्दार्थ नहीं घट सक्ता विद्म का अर्थ यह है कि जिनको मैं अपना पितर जानता हूँ परन्तु कहां हैं यह नहीं जानता हूँ अथवा जिनको जानता हूँ बाप दादे परदादे जिनको नहीं जानता इक्कीस पीढी तक यह तात्पर्य है।

यमाय सोमः पवते यमाय क्रियते हविः।
यमहं यज्ञो गच्छत्यग्निदूतो अरंकृतः। अथ० १८।२।१

यमके अर्थ सोम कियाजाता यम के वास्ते हवि किया जाता और मंत्रद्वारा अग्नि दूत ही यज्ञ से यम के प्रति हवि लेजाता है।

इत्यादि प्रमाणों से सिद्ध है कि श्राद्ध मृतक पितरों का होता है और उनके निमित्त ब्राह्मणादि को सत्कार पूर्वक दिया जाता है यह दक्षिण मुख से किया जाता है वेद कार्य्य से भिन्न है यह संक्षेप से कहा है बुद्धिमान इस का विस्तार कर सकते हैं॥

विद्यावारिधि पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र।

॥ पातिव्रत धर्म्म ॥

दोर्भ्यांदोर्भ्यां व्रजन्तं व्रजसदनजनाह्वानतः प्रोल्लसन्तं।
मन्दं मन्दं हसन्तं मधु मधुरवचो मेति वेति ब्रुवन्तम्॥
गोपालीपाणिपालीतरलितवलयध्वानमुग्धान्तरालं।
वन्दे तं देवमिन्दीवरविमलदलश्यामलं नन्दबालम्॥१॥

प्यारे सभासद् बृन्द! यह श्रेष्ठ जाति जिस प्रकार अनेक सद्गुणों और सुन्दर धर्मों से परिपूर्ण है, इसी प्रकार इस जाति में स्त्रियों को पतिव्रत धर्मका पालन करना ही सर्वोत्तम धर्म है, पति परायण पति की सेवा में दक्ष पति की इच्छानुसार कार्य करने वाली धर्म निष्ठ लक्षों महिलाओं की कीर्ति से आज तक भारतवर्ष की प्रजा सम्पूर्ण देशों में जगमगारही है, पति-

व्रतपालन वह धर्म है कि स्त्री को इसके अतिरिक्त दूसरा कर्तव्यही नहीं है, देवता ब्रह्मा विष्णु, महादेव जो कुछ है स्त्री के निमित्त सब पतिही हैं, पति की सेवाही देवाराधनाहै, जिस स्त्री पर स्वामी प्रसन्न है, मानों उसपर सबदेवता प्रसन्न हैं तपस्विनी अरुन्धती पतिव्रत धर्मके कारणही, सप्तऋषि मण्डल में महर्षि वसिष्ठ के समीप वर्त्तमान है, अब तक विवाह के मध्य में उन श्रेष्ठ अरुन्धती का दर्शन कराया जाता है, पतिव्रता स्त्री का अलौकिक प्रभाव होता है, चन्द्र, सूर्यही क्या सम्पूर्ण ब्रह्मांड के धारण में पतिव्रता समर्थ होती है भारत में लिखा है कि एक महर्षि तपकरते थे, उनके ऊपर चिड़ियाने बीट करदी, ज्योंही उन्होंने क्रोधकर उसकी ओर को देखा कि वह वैसेही जलकर भस्म होगई, तब यह अपने मनमें विचारने लगे कि अब हम प्रसिद्ध होगए, ऐसा विचार तपसे विरत हो विचरते हुए एक नगर में आये और किसी गृहस्थी के द्वारपर कुछ याचना की. ज्योंही वह स्त्री भिक्षा लेकर आई कि वैसेही उसके स्वामी ने उसको पुकारा जिससे वह बीच में से ही लौट गई और स्वामी के कार्यसे निवृत्त होकर पश्चात् वहां आई तब यह उससे पूछने लगे कि हे अबले! तू किस कारण से लौट गई, उस स्त्री ने उत्तर दिया कि महाराज ! स्वामी का कार्य करने चली गई थी तब यह ऋषि क्रोध कर बोले कि अतिथि का इतना निरादर किया तब वह इनकी क्रोध भरी दृष्टि को देख कर बोली कि महाराज मैं बन की चिड़िया नहीं हूँ जो दर्शन मात्र से ही भय भीत हो जाऊं, महर्षि बडे आश्चर्य में हुए और उस से पूछने लगे कि तुमको यह ज्ञान कहां से प्राप्त हुआ, इस पर वह स्त्री कहने लगी कि यह सब पति के चरणकमल सेवन का ही प्रताप है मैं स्वामी की सेवाही परम धर्म जानती हूँ इस प्रकार कहकर उस स्त्री ने उस ब्राह्मण को बहुत सा धर्म सिखाया, पतिव्रत धर्म के पालन से ही स्त्री सर्वोत्तम गुणों को प्राप्त होती है अधिक क्या भूत, भविष्य, वर्तमान का ज्ञान पति रक्षा कल्याण कुटुम्ब सन्तानादि की प्राप्ति यह सब इस एकही धर्म से होती हैं अनुशासन पर्व के १२३ अध्याय में कथा आती है कि सुमना नामक केकय राजाकी पुत्री ने देवलो-

क में सर्वज्ञा शाण्डिली से पूछा कि तुम किस पुण्य चरित्र और आचरण से इस लोक में आई हो और किस पुण्य के प्रभाव से तुमने सम्पूर्ण ऐश्वर्य पाया है इसपर शाण्डिली ने कहा था कि मैं गेरुआ वस्त्र धारण करने वाली नहीं हूँ, मैंने शिर मुड़ाने वा जटा धारण करने से स्वर्गलोक नहीं पाया है, परन्तु मैंने सावधान रहकर कभी भी अपने पति से कठोर वचन नहीं कहा है, देवता पितर ब्राह्मणों की पूजा में सावधान रहकर अप्रमत्त चित्त से सास श्वशुर की सेवा की थी, कभी किसी की चुगली नहीं की, घर से बाहर कभी निवास नहीं किया, न बहुत समय तक किसी के साथ वार्ताही की, किसी असत् कर्म अथवा हास्य कार्य से अहित गुप्त प्रगट किसी बात के जानने में भी मैं व्यग्र नहीं हुई, कार्य्य को बाहर जाकर जब हमारे स्वामी घर आते तब उन्हें बैठाय सावधान हो उनकी पूजा करती थी हमारे पति जिस अन्नको उत्तम नहीं जानते वा जिससे प्रसन्न न होते ऐसी भोज्य वस्तुओं को त्याग करती थी, कुटुम्ब के निमित्त जो वस्तु लाई जाती थी तथा जो कुछ घर का काम काज था प्रातःकाल ही उसको करलेती थी तथा दूसरे से कराती थी, किसी कार्य से यदि मेरे पति परदेश जाते थे तब उस समय मैं मङ्गलसूत्र धारण व्रत से रहती थी, पतिके बिदेश जाने पर उत्तम व्यञ्जन माला धारण महावर की रचना उबटन श्रृङ्गारादि नहीं करती थी पति के सुख से शयन करने पर मैं दूसरे कार्य रहने पर भी उन्हें छोड़ उठकर नहीं जाती थी, उनसे ही मेरा मन सन्तुष्ट रहता था, कुटुम्ब के कार्य के निमित्त स्वामी को सदा क्लेश नहीं देती थी, छिपाने योग्य बातों को सर्वदा छिपाकर प्रसन्न रहती थी जो स्त्री सावधान होकर इस धर्म पद्धति का पालन करती है वह स्त्रियों के बीच अरुन्धती की समान सदा स्वर्ग में निवास करती है।

हा ऐसे २ रत्न उपदेश और आख्यानें रहते भी आज नये २ समाजों में इस पतिव्रत धर्म का मार्ग नष्ट किया जारहा है, एक २ स्त्री के ग्यारह २ पति सुनाकर भारत को रसातल में पहुँचाने का प्रयत्न किया जाता है,

यही कारण है कि अकाल मृत्यु आदि के कठिन उपद्रवों ने भारतवर्ष को सब ओर से घेर लिया है इस कुलटाचार से कितना पाप का प्रचार होगा, इस को विचारवान्ही जान सकते हैं अथर्ववेद पुकार कर कहता है कि--

इयं नारीपतिलोकम्वृणाना धर्मपुराणमनुपालयंति।

पुराना धर्म पतिव्रत के पालन करने से ही यह स्त्री पतिलोक में गमन करती है, पतिव्रताओं की महिमासे अब तक भारत का शिर ऊँचा हो-रहा है, आज भी उनके समय का ही इतिहास है कि एक समय एक स्त्री अपने पति की सेवा में तत्पर थी, पति उसकी जंघा पर शिर धर-कर सोगए थे उस समय उसका छोटा लडका खेलता २ अग्निहोत्र के प्रज्वलित कुण्ड में जा पड़ा स्त्री पति की निद्रा भंग होजाने के भयसें बालक को उठाने न गई परन्तु अग्नि में क्या सामर्थ थी कि जो पति-व्रता के पुत्र को भस्म करती उसी समय चन्दनकी समान शीतल होगई, राजा की समस्या देने पर पंडित प्रवर कालिदास ने इस की समस्या इस प्रकार पढी थी।

सुतंपतन्तंप्रसमीक्ष्यपावके न बोधयामासपतिंपतिव्रता।
पतिव्रताशापभयेनपीडितो हुताशनश्चन्दनपंकशीतलः॥

इस एक बात से ही प्रगट होता है कि पतिव्रत धर्म का कैसा चमत्कृत प्रभाव है, स्त्रियों के निमित्त इससे अधिक और क्या होसक्ता है, एक वार परम तपस्विनी अनुसूया जी ने महारानी जानकी से इस प्रकार पति-व्रत धर्म का उपदेश किया था, कि हे जानकी! जो गति जप, तप, से भी किसी को प्राप्त नहीं होसकती, वह गति केवल पतिके चरणारविन्दोंकी सेवासे प्राप्त होती है।

मात पिता भ्राता हितकारी। मित सुखप्रद सुनराजकुमारी॥
अमितदान भर्त्ता वैदेही। अधम नारि जो सेव न तेही॥

वृद्ध रोगवश जड़ धनहीना । अन्ध बाधिर क्रोधी अतिदीना॥
ऐसेहु पतिकरकियेअपमाना। नारि पाव यमपुर दुखनाना॥

अर्थात् माता पिता भ्राता यह सब परिमित सुख देनेवाले हैं परन्तु हे जानकी ! स्वामी अपरिमित सुख देता है वह स्त्री अधम है जो स्वामी की सेवा नहीं करती है, स्वामी चाहै बूढा, रोगी, मूर्ख, धनहीन, अन्धा, बहरा, क्रोधी, दीन, कैसा भी हो ऐसे पति का अपमान करके भी स्त्री यमपुर में अनेक दुःख पाती है ।

एकै धर्म एक व्रत नेमा । कायवचन मन पतिपद प्रेमा ॥
जगपातिव्रता चारविधिअहहीं । वेद पुराण सन्त सबकहहीं॥

एकही धर्म और एकही व्रत नियम स्त्रियों के निमित्त कहा गया है कि मन बचन कर्म से पति के चरणों में प्रेम करें, संसार में उत्तम मध्य नीच लघु यह चार प्रकार की पतिव्रता वेद पुराणों में कही हैं यथा—

उत्तमके अस बस मनमाहीं । सपनेहु आनपुरुष जगनाहीं
मध्यम परपति देखहिं कैसे । भ्राता पिता पुत्र निज जैसे॥
विनु अवसर भयते रह जोई । जानहु अधमनारि जगसोई॥
पति वंचक परपतिरतिकरहीं । रौरव नर्क कल्पशत परहीं॥
क्षणसुखलागि जन्मशतकोटी । दुखनसमुझतेहिसमकोखोटी
बिनुश्रमनारि परमगति लहई । पतिव्रत धर्म छांडिछलगहई
पतिप्रतिकूलजन्मजहां जाई । विधवा होय पाय तरुणाई ॥

अर्थात् उत्तम पतिव्रता जानती हैं कि मेरे पति के अतिरिक्त दूसरा कोई पुरुषही संसार में नहीं है और मध्यम पतिव्रता दूसरे पतियों की बडाई छुटाई के कारण भ्राता पिता पुत्र की समान देखती हैं, जिनका चित्त चल जाता है परन्तु अपने कुल और धर्म को बिचार कर स्थित रहती हैं वे स्त्रियें निकृष्ट हैं जो बिना अवसर भय से चकित रहती हैं उसें

अधम स्त्री जान जो अपने पतिको बञ्चित कर पर. पति से रति करती हैं वह रौरवनरक में जाकर पड़ती हैं जो क्षण सुख के निमित्त अनेक जन्मों का सुख नहीं समझती उस की समान और खोटी कौन है, यदि छल छोडकर स्त्री अपने पति के चरणों की सेवा करै तो बिनाही आश्रय के उसकी परमगति होती है और पति से प्रतिकूल जहां जाकर जन्मैगी, वहां तरुणाई में विधवा होगी, कैसी भी अपवित्र स्त्री हो पति के चरणों के पूजन से परमगति होती है महाराणी जानकी ने पतिव्रत धर्म की मानो शिक्षा सर्व साधारण को करदी है उन्होंने अन्तिम परीक्षा समय कहा था ।

वाङ् मनःकर्मभिःपत्यौ व्यभिचारोयथानमे

तथामेमाधवीदेवी विवरं दातुमर्हसि । वाल्मीकीरामायण

यदि मेरा मन वचन कर्म से पति में व्यभिचार नहीं है तो यह भूमि फट जाय और मैं उस में समाऊं कैसी धर्म की महिमा है कि महारानी का प्रेम ऐसे बनवास में उनसे पृथक् नहीं था. वह कह उठी थीं कि यदि मेरा जन्म फिर हो तो रघुनाथ रामचन्द्र ही मेरे पति हों ।

इस ऐसे उज्ज्वल धर्म को नष्ट करने को आज दिन श्रुतिस्मृति के अर्थ बदले जाते हैं, पतियों से प्रेम छुड़ाने का प्रबन्ध किया जाता है कलियुग की विचित्र महिमा है जिसको अग्नि की साक्षी कर ग्रहण किया गया है, जो वेदमन्त्रों की सामर्थ से दूधपानी की समान एकरूप और शिव गौरी की समान अर्द्धाङ्गी होचुकी हैं वे किसी प्रकार भी पतिका त्याग नहीं कर सकतीं । न शास्त्र में वे अन्य पुरुष गामिनी होसकती हैं, मन में अन्य पुरुष का भाव प्राप्त होतेही पतिव्रत धर्म नष्ट होजाता है सहवास की तो कौन कहे पति के परलोक गमन मेंभी उन्हीं के निमित्त सत्कर्म करती हुई अपना समय बितावैं, कारण कि जाया (स्त्री) पति के अर्द्धाङ्ग रूप से वर्त्तमान हैं । मनु जी कहते हैं—

कामंतुक्षपयेद्देहं कन्दमूलफलैःशुभैः ।

नतुनामापिगृह्णीयात्पत्यौःप्रेतेपरस्यतु—

चाहैं कन्दमूल फल खाकर अपने शरीर को पात करदे परन्तु स्वामि क परलोक गमन में दूसरे का तो नाम तक भी न लेना चाहिये, यहां अप्रसङ्ग होने से इस बात का विस्तार नहीं करते कारण कि यहां केवल पतिव्रत की ही महिमा पर थोड़ासा कुछ कहना है, पुरातन रीति है तथा शास्त्रों में भी लेख है कि रजः स्नान पर स्त्री अपने स्वामी कोही दर्शन करै यदि वह न हो तो देवता सूर्य वा अपना मुखही दर्पणमें देखले उस सन्तान में बिगुणता नहीं आती, पतिव्रता स्त्री जिस घर में विद्यमान है वह घर देवरूप जानना चाहिये वह स्त्री सम्पूर्ण कुटुम्ब के तारने में समर्थ है मनुजी कहते हैं कि—

पतिंयानाभिचरतिमनोवाग्देहसंयता ।
साभर्तृलोकानाप्नोतिसद्भिःसाध्वीतिचोच्यते॥मनुस्मृति।

जो मन वाणी देहको नियम में रखती है कभी पतिके प्रतिकूल आचरण नहीं करती वह धर्म परायणा स्त्री स्वामी के लोकों को प्राप्त होती है ॥

और भी लिखा है कि—

कुरूपोवाकुवृत्तोवा सुस्वभावोथवैपतिः ।
रोगान्वितः पिशाचोवा क्रोधिनोवाथमद्यपः ॥ १ ॥
वृद्धोवाप्यविदग्धोवा मूकोंधोवधिरोऽपिवा ।
रौद्रोवाथदरिद्रोवा कदर्य्यःकुत्सितोऽपिवा ॥ २ ॥
कातरः कितवोवाऽपि ललनालंपटोऽपिवा ।
सततंदेववत्पूज्यः साध्व्यावाक्कायकर्म्मभिः ॥ ३ ॥

अर्थात् पति कुरूप, दुराचारी, उत्तम स्वभाव का, रोगी, पिशाच, क्रोधी मद्यप, बृद्ध, बुद्धिहीन, गूङ्गा, अन्धा बहिरा, बिकराल दरिद्री, कदर्य्य निन्दित डरपोक, कपटी, अथवा पर स्त्री लम्पट हो तथापि पतिव्रता स्त्री मन वचन कर्म्म से उसका देव के समान पूजन करै ॥ १ ॥ २ ॥ ३ ॥

पुरुषं सेवतेनान्यं मनोवाक्कायकर्म्मभिः।
लोभिताऽपिपरेणार्थैः सासतीलोकभूषणा॥ ४॥

पर पुरुष के द्रव्य का लोभ देने पर भी मन वचन और कार्य से जो पर पुरुष का सेवन नहीं करती वह स्त्री इस लोक की शोभा देनेवाली सती जाननी चाहिये॥

देवोमनुष्योगन्धर्वः सतीनां नापरः प्रियः।
अप्रियं नैवकर्त्तव्यं पत्युः पत्न्याकदाचन॥ ५॥

सती स्त्री को अपने पतिके सिवाय परपुरुष देव गन्धर्व के सदृश हो तो भी प्रिय नहीं लगता। इस कारण स्त्री को किसी प्रकार भी पति का अप्रिय नहीं करना चाहिए॥

भुङ्क्तेभुक्तेतथापत्यौ दुःखितेदुःखिताचया।
मुदिते मुदितात्यर्थं प्रोषिते मलिनाम्बरा॥ ६॥
नान्यं कामयते चित्ते साविज्ञेयापतिव्रता।
भक्तिं श्वशुरयोः कुर्य्यात्पत्युश्चापि विशेषतः॥ ७॥

पति जो भोजन करै वह उसे करे। पतिके दुःख और उसके सुख को सुखमाने, पात बिदेशगया है तो उत्तम वस्त्रको न पहरै, मनमें पर पुरुषकी कामना न करै, सास श्वशुर की भक्ति करै और स्वामी की भक्ति विशेष करके करै, उसे पतिव्रता जाननी चाहिये॥

मित्र! शोक है कि ऐसे २ रत्न उपदेश रहते भी आज पतिव्रताओं का मार्ग नष्ट किया जारहा है। कलिकाल के प्रभाव से आज उन सती स्त्रियों को पर पुरुष में नियुक्त करते हैं, बिस्तार के भय से हम अब अधिक लिखना नहीं चाहते कारण कि बुद्धिमान को इशाराही बहुत है॥

कूर्माचल भूषण पं० दुर्गादत्त पंत।

❀ तीर्थ ❀

मातः शैल सुतासपत्नि वसुधाशृङ्गारहारावलि
स्वर्गारोहणवैजयन्ति भवतीं भागीरथीं प्रार्थये।
त्वत्तीरे वसतस्त्वदम्बु पिवतस्त्वद्वीचिषुप्रेंखत-
स्त्वन्नामस्मरतस्त्वदर्पितदृशः स्यान्मे शरीरव्ययः ॥१॥

प्रिय पाठकगण ! आजकल कराल कलिकाल की विशाल महिमा से कैसे कैसे कपोल कल्पित कुतर्क वागजाल रचकर बहुधा छाद्मिक लोग हमारे सच्चे सनातन धर्म्म के प्रत्येक मर्म्मस्थान पै कठोर प्रहार कर रहे हैं उन्हें देख कौन ऐसा सत्य धर्म्मानुरागी है कि जिसको रोमाञ्च और कम्पके साथ २ मनों वेदना न होती हो। महाशय! आप जानतेही हैं कि इस समय में सतयुग के समान तपश्चर्य्या नहीं होसकती। और न त्रेतायुग की तुल्य ज्ञान की आशा है ? और न द्वापर के समान राजसूय आदि यज्ञों की सम्भावना है केवल कलिकालमें भगवद् भजन पाठ पूजन,श्राद्ध तर्पण और तीर्थ सेवनादि धर्म्माचरणही इस असार संसार से पार होने का उपाय शेष रहा है।

यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो उक्त कार्यों में तीर्थ सेवाही सबकी मूल भूत प्रतीत होती है। क्योंकि प्रायः गृहस्थी लोग घर में रातदिन लौकिक कार्यों में लगे रहते हैं और स्त्री पुत्रादि के निमित्त मिथ्या महा मोह में निमग्न हो हाहाकार करते हैं और अपने वास्तविक कर्त्तव्य से सर्वथा भ्रष्ट होकर अपने उद्धार का स्मरण मात्र भी नहीं करते । यदि करें भी तो अनेक लौकिक गृह सम्बन्धी कार्य कलाप की निकटता से स्वल्प ही करसकते हैं। और उतने में चित्त एकाग्र नहीं होता है।

इस कारण जब मनुष्य तीर्थयात्रा आदिको जाता है तब "मैं इन कार्यों को फिर आकर करूँगा" इस आशा से कुछ काल तक लौकिक कार्य व्यवहार आदिसे मन हटा लेता है, और केवल धर्माचरण में तत्पर

होकर बहुत कर्त्तव्य को थोड़े समय में ही करलेता है क्योंकि वहां (तीर्थ आदि में इस जीव) को बिना धर्मानुष्ठान के और कुछ भी कर्त्तव्य नहीं होता । इस कारण जितना समय धर्माचरण के लिए तीर्थयात्रा में मिलसकता है, घर में उसका दशांश निकलना भी कठिन होता है । प्रायः पवित्र क्षेत्र में महात्मा धर्मात्मा विद्वान् और साधुजनों के सत्सङ्ग से समस्त काल स्नान, दान, भगवद्भजन पाठ पूजन आदि सत्कर्मों में ही व्यतीत करना होता है अतएव इस समय में तीर्थ सेवाही सनातन धर्मका मूल कारण है ।

परन्तु शोक की बात है कि किसी प्रकार से बची बचाई "तीर्थ सेवा पर भी कलि के प्रभाव आधुनिक कल्पित कुतर्क वागजाल लग चला है । और कई भोले भाले हमारे ही भाइयों ने सहसा उस जाल में फँसकर निज धर्म कर्मको तिलाञ्जलि दे वैदिक कर्मी और आर्य धर्मी होने की शुष्क आशा से मन माने लड्डू खानेके लोभ में वृथा पड़कर समस्त भूमण्डल के शिरोमणि पवित्र क्षेत्र भारतवर्ष के मध्य शुद्ध चातुर्वर्ण्य कुल में अति दुर्लभ अमूल्य रत्न मनुष्य जन्म को बिना दाम खो देना ही परम लाभ समझ लिया है ।

वास्तव में उन लोगों का भी दोष नहीं किन्तु यह कलिकाल राज्य का तेज, और अविद्या महारानी का प्रताप है, तथा कपोल कल्पित कुतर्क वागजाल का फल है ।

इसी से उस आधुनिक मिथ्या कपोल कल्पित कुतर्क वागजाल लेख का पोल दिखाना और नदियों तथा तीर्थों की सनातनता को वेदादि सच्छास्त्रों के प्रमाणों से सिद्ध करनाही अपेक्षित है । इस कारण मैं भी अपनी बुद्धि के अनुसार "तीर्थनिरूपण" विषयक एक व्याख्यान आप लोगों की सेवा में समर्पण करता हूँ और आशा करता हूँ कि सज्जन धार्मिक यथार्थ भाव से सत्य स्वीकार और असत्य परित्याग की दृढ प्रतिज्ञासे सत्यसार का ग्रहण कर मुझे भी अनुगृहीत करेंगे और आप भी शुद्ध

सनातन धर्म्म से कभी विचलित न होंगे प्रत्युत यथासाध्य मुग्ध और वंचित पुरुषों को भी प्रेरणा करके सत्यमार्ग में प्रवृत्त करावेंगे.।

प्रथम आपकी सेवा में सर्व शिरोधार्य्य वेद के मन्त्र निवेदन किये जाते हैं।

इमं मे गंगे यमुने सरस्वतिशुतुद्रिस्तोमंसचतापरुष्ण्या।
असिक्न्यामरुद्वृधेवितस्तयार्जीकीये शृणुह्यासुषोमया॥

ऋ० ८०। ३०। ६०। ५०।

अर्थात् हे गङ्गे! यमुने! सरस्वती! शुतुद्रि! (सतलज) परुष्णी [ऐरावती=रावी] और असिक्नी नदीके साथ हे मरुद्वृधे! (चन्द्रभागा=चिनाव) वितस्ता [झेलम] के साथ और सुषोमा [सिन्धु सिन्ध] के साथ हे आर्जीकीय! [विपाशा=व्यासा] इस मेरे यज्ञ को आकर सेवन करो और स्तुति को सुनों। इसी प्रकार यजुर्वेद का भी एक मन्त्र है जिस में पांच नदियों को सरस्वती के नाम से लिखा है।

पंचनद्यःसरस्वतीमपियन्तिसस्रोतसः।
सरस्वतीतुपंचधासोदेशेऽभवत्सरित्॥

य० वा० सं० अ० ३४। मं० ११

अर्थात् जो दृषद्वती (घाघरा) से आदि समान प्रवाह वाली नदियें सरस्वती में मिलती हैं वे पांचों सरस्वती ही बन जाती हैं।

सरस्वतीसरयुःसिन्धुरूर्म्मिभिर्महोमहीरवसयंतुवक्षणी॥
दवीरापोमातरःसुदयित्न्यो घृतवत्पयोमधुमन्नो अर्च्चत॥

ऋ० सं० १०। ५। ६। ४।

अर्थात् लहरों से युक्त बड़ी से बड़ी सरस्वती सरयू और सिन्धु नदियें रक्षा करने के कारण आवें और प्रकाशमान, माता की समान पालने वाले तथा पापों के नाश करने वाले उनके जल हमें घृत और मधुयुक्त जल देवें। और देखिये—

महोअर्णःसरस्वतीप्रचेतयतिकेतुनाधियोविश्वाविराजति।

ऋ० सं० मं० १ अ० १ सू० १४ मं० १२

अर्थात् सरस्वती दो प्रकार की हैं एक देवतारूप दूसरी नदीरूप। उन में से पहली दो ऋचाओं से देवता रूप सरस्वती का प्रतिपादन किया है अब इस ऋचा से नदीरूपा सरस्वती का प्रतिपादन करते हैं।

वैसी [नदीरूपा] सरस्वती अपने प्रवाह से बहुत जल को जतलाती है, और देवतारूप से अनुष्ठाताओं की बुद्धियों को प्रकाश करती है॥

इसी प्रकार निरुक्त में भी सरस्वती के दोनों स्वरूप दिखलाए हैं—

सरस्वतीत्येतस्य नदीवद्देवतावच्चनिगमा भवंति॥

नि० अ० २ पा० ७ खं० १

अर्थात् सरस्वती के निगम नदीवत् और देवतावत् होते हैं, अर्थात् दोनों स्वरूप होने से दोनों प्रकार के निगम होते हैं। फिर देखो—

इयंशुष्मेभिर्विसखाइवारुजत्सानुगिरीणांतावषेभिरूर्मिभिः।
पारावतघ्नीमवसेसुवृक्तिभिःसरस्वतीमाविवासेमधीतिभिः॥

ऋ० सं० अ० ५० ऋ० २ सू० ६१

अर्थात् सरस्वती देवतारूपा और नदीरूपा है। देवतारूप की स्तुति की अब नदी रूप की स्तुति करता है। यह सरस्वती नदी अपने सुखाने वाले बलों और बड़ी २ लहरों से तीरवर्ती पर्वतों के सानुओं को बिसखानक (बिस=में उखाड़ने वाले) की समान तोड़ती है। उस पार उरार (दोनों किनारों को) तोडने वाली सरस्वती नदी को हम स्तुति और कर्म (यज्ञ आदि) से रक्षा करने के निमित्त परिचर्य्या करते हैं।

और देखिए कि ऋ० सं० के ३ मं० ३ अ० १३ मन्त्रों का ३३वां सूक्त है जिस में कथा है कि कुशिक राजर्षि का पुत्र विश्वामित्र ऋषि जब पैजवन सौदास राजा का पुरोहित बनकर उससे बहुत सा धन लाया तब आतेहुए मार्ग में शतलज और व्यासा दोनों नदियों के सङ्गम में आया

और वहां से तैरने की इच्छा से विश्वामित्र ने उन (दोनों नदियों) की स्तुति कर के कहा कि तुम एक मुहूर्त्त भर अपने प्रवाह को रोकलो तो मैं तैरजाऊँ तब नदियों ने कुछ सम्बाद और इन्द्र की स्तुति करके ऋषि को मार्ग दिया और ऋषि ने पार होकर फिर उन [नदियों] की स्तुति की और फिर वैसाही पूर्ववत् उन [नदियों] का प्रवाह होगया इत्यादि वर्णन मन्त्रों में ही है जिनका प्रथम मन्त्र यह है कि–

प्रपर्वतानामुशतीउपस्था दश्वेइवविषितेहासमाने।
गावेवशुभ्रेमातरारिहाणे विपाट्छुतुद्रीपपसाजवेते॥
ऋ० सं० मं० ३ अ० ३ सू० ३३ मं० १

अर्थात् विश्वामित्र कहता है कि जैसे अश्वशाला [तबेले] से निकल कर दो घोड़ियें जिद्द से दौड़ती हैं वा जैसे शोभायमान दो गौएँ अपने बच्चे को चाटने की इच्छा से दौड़ती हैं वैसेही पहाड़ों की गोद से निकल कर बिपाशा और शुतुद्री अर्थात् व्यासा और शतलज दौड़कर समुद्र को जाती हैं।

महाशय ! अब आपही कहिए कि इन सब वेद मन्त्रों में कैसा साफ२ नदियों का वर्णन है, और किस प्रकार नदियों के सनातनता में परम मान्य श्री वेद पुरुष के मन्त्रोंही का प्रमाण विद्यमान है। अब आप की सेवा में और भी प्रमाण समर्पण किए जाते हैं जिन से तीर्थों में जाकर स्नान और दान का करना तथा उन से धन और सन्तान की प्रार्थना करनी और त्रिविध (अर्थात्) मानसिक, वाचिक, और कायिक पापों की निवृत्ति और मोक्ष तक की प्राप्ति सिद्ध होती है।

समुद्रंवाएतेप्रतरंतिये संवत्सरायदीक्षन्ते तस्यतीर्थ-
मेव प्रापणीयः। त्रिरात्रस्तीर्थेनहि प्रस्नांतितद्य-
त्प्रापणीयमतिरात्रमुपयन्तियथा तीर्थेन समुद्रंप्र-

स्नायुस्ताद्दक्तत् ॥ श० का० १२ अ० २ ब्रा० १ कं० १

और भी ब्राह्मण में लिखा है-

देवाहवैसत्रंनिषेदुः अग्निरिंद्रःसोमोमखोविर्विश्वेदेवाविनैवाश्विभ्याम् १ तेषांकुरुक्षेत्रं देवयजनमास तस्मादाहुःकुरुक्षेत्रं हि देवानां देवयजनमितितस्माद्यत्रक्वचकुरुक्षेत्रस्यनिर्गच्छति तदेव मन्यते इदंदेवयजनमितितद्धिदेवानां देवयजनम् ॥ श० का० १४ अ० ब्रा० १ कं १

और भी-

ऋषयोवैसरस्वत्यां सत्रमासत तेकवषमैलूषं सोमादयन् दास्याः पुत्रः कितवोऽब्राह्मणः कथंनोमध्ये दीक्षिष्टेति, तंवहिर्धन्वोदवहन्नत्रैनंपिपासा हंतु सरस्वत्या उदकं मापिबदिति, सवहिर्धन्वोद्दढः पिपासया वित्त एतदपोन प्रीयमपश्यत् प्रदेवत्रा ब्रह्मणेगातुरेत्विति, तेनापां प्रियं धामोपागच्छत् तमापोऽनूदाढास्त सरस्वती समंतं पर्य्यधावत्तस्माद्धाप्य तर्हि परिसारकमित्याचक्षते ॥ ऐ० ब्रा० २ पं ३ अ० १९ कं० पुनरपि ब्राह्मणम्-

अष्टासप्ततिं भरतो दौष्यन्तिर्यमुनामनु ।
गङ्गायां वृत्रघ्ने बध्नात् पञ्च पञ्चाशतंहयान् ॥

ऐ० ब्रा० ८ पं० ४ अ० २३ कं०

अन्यच्च ब्राह्मणम्-

अथैतद्धोम देवयजनं यत्रायस्तिष्ठति यत्र स्पन्दंति प्रंतद्धहंत्युद्धहन्ति तद्देवं यजनम्॥ गो० ब्रा० पू० १३ भा० प्र २ कं०

अर्थात् जो सम्वत्सरकी दीक्षालेते हैं वे समुद्र को तरते हैं और उनका अतिरात्रि यज्ञ ही तीर्थ होता है जैसे तीर्थ में स्नान है वैसे ही वह [यज्ञदीक्षा] है।

देवताओं ने यज्ञ किया था जिसमें अग्नि, इन्द्र, सोम, मख (यज्ञपुरुष) और विष्णु थे परन्तु विश्वदेवा नहीं थे उनका देव यजन स्थान कुरुक्षेत्र था इसी से कुरुक्षेत्र को देवयजन कहते हैं और जहां कहीं कुरुक्षेत्र का निगमन आता है वहीं मानते हैं कि यह देवयजन है । ऐतरेय ब्राह्मण मेंभी लिखा है कि ऋषियों ने सरस्वती पर यज्ञ रचा और उन्हों ने कवष ऐलप को सोम से बाहिर किया कि यह क्यों हमारे में दीक्षित हुआ इसे यही प्यास लगे और यह सरस्वती का जल न पीवे, तब वह बाहर गया हुआ प्यास से खिन्न होकर जलायन को [प्रदवत्राब्रह्मणे गातुरे तु०]

इस मन्त्र को देखता हुआ और उसी से जलों के परमधाम को पहुँचा और सब जल उसे आन मिले, सरस्वती उसके चारोंओर से सरकी उसी से अबतक भी उस [स्थान] को परिसारक कहते हैं॥

ऐसेही और भी है कि दुष्यन्तराजा के पुत्र भरतराजा थे यमुना के किनारे २८ अट्ठाइस और गङ्गा पर ५५ पचपन घोड़ों को बांधा अर्थात् वहां [गङ्गा यमुना] पर यज्ञ किया। और भी ब्राह्मण कहता है कि इसी पृथ्वीपर देवयजन [यज्ञस्थान] है जहां जल ठहरते हैं बहते हैं स्रवते और उछलते हैं अर्थात् ऐसे स्थानों में देवताओं का पूजन करना चाहिये॥

पाठक महाशय! इस शतपथ, ऐतरेय और गोपथ ब्राह्मण की श्रुतियों से भी तीर्थ कुरुक्षेत्र की कैसी प्राचीनता सिद्ध है। अब संहिता

के कुछ मन्त्र लिखते हैं जिन से तीर्थों पर जाकर स्नान दान आदि की सिद्धि होती है देखिये--

आदान्मेपौरकुत्स्यः पञ्चाशत्तत्रसदस्यूर्वधूनाम्। मंहिष्ठोअ-र्य्यःसप्ततिः ऋ० सं० ६१, ३९,६ और-

उत्तमे प्रियियोर्वयियोः सुवास्त्वा अधितुग्वनि । विस्तृणां सप्ततीनां श्यापः प्रणेताभुवद्वसुर्दिशानाम्पतिः॥

ऋ० सं० ६, १, ३९, ७।

अर्थात् कण्ववंशीय, सौभरि ऋषि कहता है कि शत्रुओं को डराने वाले बड़े पूज्य, भगवान्, सम्पालक पुरु, कुत्स्य राजा से पुत्र ने सुवास्तु नदी के तीर्थपर पचास कन्या, दो सौ दस गौएँ और श्यामवर्ण बैल तथा बहुत घोडे और वस्त्रादि मुझे दान दिया है। इन मन्त्रों से तीर्थों पर दान देने की सनातनता सिद्ध होती है। और भी मन्त्र लिखते हैं जिनसे धन और सन्तान की प्राप्ति के लिये सरस्वती से प्रार्थना है।

अम्बितमे नदीतमे देवितमे सरस्वति। अप्रशस्ता इवतस्मसि प्रशस्तिमम्बिनस्कृधि ऋ० सं० १।८।१०।२।४।१।१६

अर्थात् माताओं में, नदियों में देवियों में श्रेष्ठ हे सरस्वति! हम धन के न होने से असमृद्ध हैं हे माता सरस्वति! हमारी धन समृद्धि को कर अर्थात् हमें धन दे। इस अगले मन्त्र में अन्न और सन्तान के लिये सरस्वती से प्रार्थना है॥

तेविस्वासरस्वति श्रिनायूंषि देव्याम्। शनहोत्रेषु मत्स्वप्रजां देवि दिदिड्ढिनः। ऋ सं० २।८। १०। २। ४।१७

अर्थात हे सरस्वति देवि! तेरे दीप्त होने परही सब अन्न आश्रित होते हैं और वह तू हमारे विषय में अमृत पान से तृप्ति हो और देवि सरस्वति हमें प्रजा [पुत्रों] को दीजिये॥ १७॥